कोविद गद्य

हिन्दी साहित्य के चुने हुए निबन्धों और लेखों का

कोविद परीक्षा प्रथम भाग के लिये

सम्पादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी

संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा विभाग द्वारा प्रकाशित

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

प्रथमवार] १९४४ [मूल्य २)

भूमिका

(अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिये)

इस संकलन का मुख्य उद्देश्य भावी हिन्दी-शिक्षकों को हिन्दी-साहित्य के भिन्न समय और शैलियों के मान्य सुलेखकों की कृतियों से परिचय कराना है जिससे वे हिन्दी-गद्य के आधुनिक विकास से परिचित हो जायँ और उन्हे हमारे प्रतिष्ठित लेखकों की भिन्न-भिन्न शैलियों का ज्ञान हो जाय। चयन करने में यह भी ध्यान रक्खा गया है कि अध्ययन करने के लिए यथासंभव सभी प्रकार के लेखों और निबधों के नमूने हमारे भावी शिक्षकों को दिए जायँ। इसलिए इसमे वार्तिक, वर्णनात्मक, विचार-पूर्ण, विनोदपूर्ण, चरित्र-चित्रण-संबंधी, जीवन-चरित्र-संबन्धी, समालोचनात्मक, समीक्षापूर्ण आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के लेखों का संग्रह किया गया है। इनमें कुछ बहुत सरल हैं। वे भाषा और लेखनशैली से महत्वपूर्ण होने के कारण दिए गए हैं और कुछ, जिनमें विचारों की जटिलता है, विचारोत्तेजना के लिए रक्खे गए हैं।

इस सकलन का प्रथम ध्येय 'गद्य' शैलियों का नमूना देना है। ऐसी भाषा लिखना, जिसमें व्याकरण की भूले न हों, बहुत सरल है और बहुत से लोग लिखते और लिख सकते हैं। किन्तु अच्छे गद्य में केवल व्याकरण का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता। अच्छा गद्य वह है जिसमें शब्दों का उचित और सुन्दर उपयोग हो और जिसके पढ़ने मे सुरुचि रखनेवाले पाठक को आनन्द आवे। इसके साथ ही उसको विचार करने की प्रेरणा मिले और उसमें प्रस्तुत विषय के साथ सहानुभूति का सचार हो। ऐसी शैली के लिए कोई नियम नहीं है। वह नियमों के बन्धन से परे है। जिस प्रकार निपुण कलाकार के हाथ में पड़कर गीली मिट्टी की लुगदी सुन्दर रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार कुशल लेखक की लेखनी से साधारण शब्द असाधारण सौंदर्य प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक लेखक की शैली में उसके व्यक्तित्व की छाप होती है, और इसीलिए दो मौलिक लेखकों

की शैलियाँ एक सी नहीं होतीं। वास्तव में शैली लेखक के व्यक्तित्व का साहित्यिक प्रकाशन है।

किन्तु भिन्न शैली के होने पर भी. अपने ढग से अगल-अलग कुशल चित्रकारों के चित्र सुन्दर अवश्य होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कुशल लेखकों के लेखों मे सौंदर्य आवश्यक है और सौन्दर्य से भी अधिक आवश्यक है—प्रभाव। शास्त्रों में कहा है कि अक्षर कामधेनु हैं। जो लोग अक्षररूपी कामधेनु को दुहना जानते हैं, उनसे मनोवाञ्छित काम लेना जानते हैं. वे उनसे इच्छित प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु अक्षररूपी कामधेनु को सिद्ध करना परिश्रमसाध्य है। इस परिश्रम को ही साहित्य साधना का नाम दिया गया है और सिद्धि को साहित्य का।

कुशल साहित्यकार भाषा और शब्दो का सयत और विवेकपूर्ण उपयोग करता है। वह अपनी भाषा मे कोई भी निरर्थक शब्द नहीं आने देता और शब्दो का चुनाव विषय के अनुरूप करता है। शब्दो के अर्थ के सूक्ष्म भेदों का—अर्थ के गहरे, कम गहरे और अधिक गहरे रंगों का—वह केवल ध्यान ही नहीं रखता, वरन् उन्हें इस प्रकार मिलाता है कि उनमे सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। उदाहरण के लिए, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, प्रणय, स्नेह, वात्सल्य शब्दों के अर्थों मे कहीं गहरा और कहीं सूक्ष्म भेद है। उनका उचित प्रयोग भाषा के ज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के लिए किस अवसर पर कन्हैया कहा जाय, कब बृजेश कहा जाय, कब यदुपति लिखा जाय, कब गोपाल कहकर संबोधन किया जाय और कब मधुसूदन कहकर पुकारा जाय—इसका निर्णय करना कुशल कलाकार के लिए कठिन नहीं है। जिस प्रकार अर्थ-सामञ्जस्य एक गुण है, वैसे ही ध्वनि-साम्य भी उत्कृष्ट कलाकार की कला का प्रमाण है। कौन वर्ण किस वर्ण के बाद ठीक बैठेगा—यह एक प्रकार का ध्वनि-साम्य है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण रावण कृत शिव-ताण्डव-स्तोत्र है। उसमें ऐसे कठिन और कर्ण-कटु अक्षरवाले शब्द हैं कि उनमे से किसी किसी के तो अलग उच्चारण करने मे जीभ रुकने लगती है। किन्तु किसी भी पंक्ति को पढ़िए :—

जटा कटाह सम्भ्रमः भ्रमन्निलिम्प निर्झरी।
विलोलवीचि वल्लरी प्रकाशमान मूर्द्धनि ॥
धगद्-धगद् धगज्ज्वलल्लाट पट्ट पावके।
किशोर चन्द्रशेखरे रतिप्रतिक्षणं मम ॥

यह वर्ण-साम्य का पूर्ण उदाहरण है। ध्वनि-साम्य होने पर साधारणतः कर्णकटु वर्ण भी भले मालूम पड़ते हैं। और यह ध्वनि-साम्य विषय के अनुरूप वर्णों का होना चाहिए।

इन गुणों को सामूहिक रूप से भाषा का 'सौष्ठव' कह सकते हैं। किन्तु भाषा के सौष्ठव के साथ भाव और विचार की दृष्टि से गद्य मे प्रवाह होना चाहिए। अर्थात् पढनेवाले को भाषा की दुरूहता या भावों की स्पष्टता के कारण लेखक का आशय समझने मे उलझन न हो। कभी-कभी विषय की कठिनता के कारण भाषा स्वभावतः कढिन हो जाती है। दर्शन-शास्त्र के किसी गहन विषय के विवेचन में अप्रचलित और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है, और इसलिए उन साधारण पाठकों को, जो उस विषय से अनभिज्ञ हैं, उस भाषा का कठिन मालूम होना स्वाभाविक है। किन्तु इसकी कसौटी यह है कि जो उस विषय से परिचित है उसे वह भाषा दुरूह मालूम पड़ती है या नहीं। लेखक की वास्तविक सफलता और उसका भाषा-सम्बन्धी अधिकार तभी प्रकट होता है जब वह दुरूह विषय को सरल भाषा में साधारण व्यक्ति के लिए सुलभ कर देता है।

भाषा के प्रवाह के सिवाय विचारों का प्रवाह भी अच्छे गद्य के लिए अनिवार्य है। वास्तव मे जिन लेखकों की विचारशैली तर्क-संगत होती है और भाव स्पष्ट रूप से समझे हुए होते हैं उनके गद्य मे भाव-प्रवाह भी होता है, किन्तु जिनको विषय का ज्ञान अस्पष्ट है, या जिनकी विचार-शैली अतार्किक है उनका गद्य भी उलझा हुआ होता है। सुलझे मस्तिष्क वाले सुलझा गद्य लिखते हैं। अतएव भाषा के अधिकार के सिवाय लेखक में विचारों और ध्येय की स्पष्टता और सुलझा मस्तिष्क भी आवश्यक है।

गद्य और काव्य में एक बड़ा मौलिक भेद है। गद्य मुख्य रूप से हमारे मस्तिष्क को, और काव्य हमारे हृदय को स्पर्श करता है। एक विचारोत्तेजक है तो दूसरा भावना-उत्तेजक। कविता के लिए आवश्यक नहीं कि वह तर्क और बुद्धि-संगत ही हो। यदि वह कुछ अतिशयोक्ति का सहारा लेकर भी हमारी भावनाओं को जाग्रत कर देती है तो उसका उद्देश्य सफल हो जाता है। जब कविता मस्तिष्क को स्पर्श करके नीचे हृदय तक नहीं उतरती तो हम उसे 'पद्य' कहकर टाल देते हैं। पद्य वास्तव में असफल काव्य या छन्दोबद्ध गद्य है। यह नहीं कि कोई भी हृदय-स्पर्शी कविता मस्तिष्क को स्पर्श नहीं करती। मस्तिष्क को तो स्पर्श पहले करती है, किन्तु वहीं न रुककर वह हृदय मे उतर जाती है और वहाँ वह जो भावोद्रेक करती है उससे मस्तिष्क पर पड़ा हुआ प्रभाव अवसन्न हो जाता है। गद्य भी इसी प्रकार कभी-कभी कविता की तरह हृदय को स्पर्श कर जाता है, किन्तु यह उसका मौलिक उद्देश्य नहीं है। इसीलिए कभी-कभी अपढ़ या अर्द्धशिक्षित लोग भी अच्छे कवि हो जाते हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति जो विद्वान् नहीं है अच्छा गद्य-लेखक नहीं हो सकता।

अतएव गद्य मूलतः विचार-प्रधान है। विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए स्पष्ट और नपी-तुली भाषा का माध्यम आवश्यक है। भाषा में सौष्ठव होने से अर्थ को स्पष्ट करने मे सरलता आ जाती है और प्रभाव उत्पन्न करने में सहायता मिलती है।

अभी तक जो कुछ लिखा गया है वह किसी भी भाषा के गद्य के संबंध में कहा जा सकता है। हिंदी के संबंध में यहाँ कुछ विशेष कहने की आवश्यकता है। किन्तु जो कुछ हम कहना चाहते हैं उसको कहने के पहले हमें हिन्दी गद्य के विकास की रूप-रेखा समझ लेनी चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि हिन्दी-गद्य पर किन-किन आन्तरिक और बाहरी बातों ने प्रभाव डाला है।

कहा जाता है कि हिन्दी-गद्य का आरंभ श्रीगुरु गोरखनाथ जी से हुआ। इनका समय संवत् १४०० के आस-पास है। यह बतलाना कठिन

है कि जो ग्रंथ 'गोरख की बानी' 'गोरखनाथ के पद' के नाम से मिलते हैं वे सब इन्हीं के बनाए हैं अथवा बाद में उनके शिष्यों ने उनके नाम से लिखे हैं। जो कुछ भी हो, गोरखनाथ का गद्य ब्रजभाषा मे है जो उस समय उत्तरभारत की जनता की सास्कृतिक भाषा थी। उनकी भाषा का एक उद्धरण देखिए :

" श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-सरूप है शरीर जिन्हिको, जिन्हिके नित्य गाए तं शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।"

इस भाषा की गठन वही है जो आज भी उस हिन्दी भाषा की है, जिसे कथा कहनेवाले पडित सस्कृत श्लोकों को हिन्दी मे समझाने के लिए प्रयोग में लाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आरम्भिक हिन्दी-गद्य सस्कृत से प्रभावित था और वह प्रभाव केवल शब्दों में ही नहीं, प्रत्युत भाषा की गठन पर भी प्रत्यक्ष है। किन्तु भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग होता था। विदेशी भाषाओं के प्रभाव का सर्वथा अभाव था।

गोरखनाथ जी के प्रायः दो सौ वर्ष बाद एक दूसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गाररस-मंडन' नामक ग्रन्थ गद्य मे लिखा। फिर सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक पुस्तके, और उत्तरार्द्ध में नाभादास कृत 'अष्टयाम' नामक पुस्तक लिखी गई। इसी शताब्दी मे गग कवि ने 'चद छद बरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक गद्य मे लिखी, जिसकी भाषा खड़ीबोली है। संवत् १७६० के लगभग (१८ वीं विक्रम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में) सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा और उसी समय सूरति मिश्र ने 'बैताल पचीसी' लिखी। इस अठारहवीं विक्रमी शताब्दी के अंत में १७६८ मे रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषायोग-वाशिष्ट' नामक ग्रंथ लिखा जो अच्छी खड़ी-बोली में है। इसके थोड़े दिनों बाद ही पण्डित दौलतराम ने पद्म-पुराण का अनुवाद भी खड़ीबोली ही में किया।

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी मे उल्लेखनीय चार गद्य-लेखक हुए जिनके नाम मुंशी सदासुखलाल, मुंशी इंशाअल्ला ख़ाँ, पंडित लल्लूलाल और लाला हीरालाल हैं। सदासुखलाल ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद 'सुखसागर' के नाम से किया। उनकी भाषा संस्कृत से प्रभावित थी और उनका ग्रंथ आज भी चाव से पढ़ा जाता है। मुंशी इशाअल्ला ख़ाँ लखनऊ-निवासी थे। उन्होंने 'ठेठ' भाषा मे (जिसमें संस्कृत के तत्सम और फ़ारसी-अरबी शब्दों का पुट नही है) 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है। इसकी भाषा अवश्य ठेठहिन्दी है, किन्तु उसमे स्वाभाविकता नही है, क्योंकि वाक्य-विन्यास पर बहुधा फारसी का प्रभाव है और गद्य कहीं-कहीं पद्य की झलक दे जाता है। लल्लूलाल वारेन हेस्टिङ्ज़ द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ते मे काम करते थे। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए पुस्तकों की रचना की। लल्लूलाल जी का प्रेम-सागर ब्रजभाषा और खड़ीबोली के संधि-काल का ग्रथ है। किन्तु यह ग्रथ बहुत जनप्रिय हुआ। इसमें श्रीमद्भागवत् के दशमस्कंध की कथा है। इस पर सस्कृत की छाप थी। विदेशी अंग्रेज़ी, फारसी या अरबी शब्दों का प्रयोग नहीं था। वाक्य-विन्यास भी हिन्दी-व्याकरण और हिन्दी-शैली के अनुसार है। लाला हीरालाल ने 'आईन अकबरी की भाषा-बर्चानिका' नामक पुस्तक लिखी जो फ़ारसी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक के आधार पर लिखी गई थी। यह ब्रजभाषा मे थी।

इसी काल में इस देश मे ईसाई-मिशनरियों ने भी धर्म-प्रचार के लिए पदार्पण किया और वे जनता में ईसाईधर्म फैलाने के लिए जनता की भाषा मे ईसाई धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों की रचना करने लगे। उन्होंने हिन्दी भाषा और व्याकरण का अध्ययन किया और खड़ीबोली मे ईसाई-साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। इनमे से कोई-कोई पादरी भाषा और व्याकरण के पण्डित थे और उन्होंने हमारी भाषा का अध्ययन पाश्चात्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किया था। अतएव वे लोग भाषा की शुद्धता की ओर बहुत ध्यान रखते थे। बाइबिल के अनुवाद के सिवाय उन्होंने हिन्दी मे कितनी ही छोटी-बड़ी पुस्तकें रचीं जिनकी भाषा सरल और सुन्दर है।

विक्रम की बीसवीं सदी के आरम्भ में अंग्रेज़ीसरकार ने इस देश की जनता की प्रारंभिक शिक्षा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। जनता की शिक्षा जनता की भाषा में ही हो सकती थी। अतएव हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें लिखी जाने लगीं। दिल्ली में एक सरकारी अनुवाद विभाग खोला गया जिसके द्वारा अंग्रेज़ी से विज्ञान, इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों की पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद हिन्दी और उर्दू में किए जाने लगे। संवत् १९१३ वि० में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर नियुक्त हुए। वे देवनागरी लिपि के बड़े पक्षपाती थे, किन्तु वे भाषा को 'आमफहम' बनाना चाहते थे, जिससे उर्दू के हिमायती मुसलमानों को हिन्दी से आपत्ति न हो। उन्होंने 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त' तथा 'इतिहास तिमिर-नाशक' आदि कितनी ही पुस्तकें लिखीं। वे उत्तरोत्तर उर्दू-प्रधान भाषा लिखते गए। उनकी इस भाषा-नीति का हिन्दी विद्वानों द्वारा बड़ा कड़ा विरोध हुआ, और विरोधियों के नेता थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और राजा लक्ष्मणसिंह। राजा लक्ष्मणसिंह भी राजा शिवप्रसाद के समान ही सरकारी कर्मचारी थे। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मेघदूत' और 'रघुवंश' के हिन्दी अनुवाद किए। अंतिम पुस्तक गद्य में, दूसरी पद्य में और पहिली गद्य-पद्यमय है। उनकी भाषा विशुद्ध हिन्दी होती थी। भारतेन्दुजी की गद्य-पद्य-रचना इतनी अधिक है कि उसकी नामावली देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। उन्होंने स्वयं ही साहित्य-निर्माण नहीं किया, प्रत्युत कितनों ही लोगों को साहित्य-सेवा के लिए प्रेरित किया। अपनी मासिक पत्रिका 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' के द्वारा उन्होंने हिन्दी गद्य-निर्माण और हिन्दी प्रचार में ऐसा महत्वपूर्ण काम किया कि 'वे आधुनिक हिन्दी गद्य के पिता' कहे जाने लगे।

स्वामी दयानन्द, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, श्रीनिवासदास तथा बालकृष्ण भट्ट उनके सम-कालीन थे। प्रायः उसी समय कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। इन सब लोगों की हिन्दी सेवा और हिन्दी-

साहित्य-साधना ने राजा शिवप्रसाद की चलाई उर्दू-प्रधान 'आमफ़हम' भाषा के आन्दोलन को बिल्कुल नष्ट कर दिया। यह प्रकट हो गया कि हिन्दी-संसार उसके विपक्ष में निश्चित रूप से है।

भारतेन्दु के बाद ही पंडित मदनमोहन मालवीय ने हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया, जिसमे अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापसिंह का पूर्ण सहयोग था। उनके बाद जो पीढी हुई उसने हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया। उस काल के असंख्य साहित्यिकों में पंडित प्रभुदयाल (संपादक 'बंगवासी'), राधाचरण गोस्वामी, अमृतलाल चक्रवर्ती, माधवप्रसाद मिश्र, श्रीधर पाठक, चंद्रधर गुलेरी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्ण मिश्र, राधाकृष्णदास, माधवराव सप्रे, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', सीताराम 'भूप', बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु तथा भगवानदीन आदि के नाम एकदम स्मरण हो आते हैं। किन्तु इन लोगों के सिवाय उस पीढ़ी में तीन व्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास और पुरुषोत्तमदास टंडन। वास्तव मे इस पीढ़ी के लोगों का प्रभाव अभी बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है और सौभाग्य से उस पीढ़ी के कुछ महारथी हमारे बीच में आज भी उपस्थित हैं। उपर्युक्त तीनों सज्जनों मे से महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-निर्माण के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। द्विवेदी जी ने भाषा के जिस रूप का प्रतिपादन किया वह रूप माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चंद्रधर गुलेरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि पहले ही स्वीकार कर चुके थे और भाषा का वह रूप उस समय प्रचलित था जिस समय द्विवेदी जी के हाथ मे 'सरस्वती' का संपादन आया। स्वयं द्विवेदीजी की भाषा का रूप एक नहीं था। कभी वे संस्कृत-गर्भित दुरूह भाषा लिख जाते थे और कभी अपने लेखों में अरबी फारसी के शब्दों की भरमार कर देते थे। किन्तु उनको श्रेय इस बात का है कि उन्होंने भाषा की शुद्धता की समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, समालोचना द्वारा लोगों का ध्यान भाषा-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं की ओर खींचा

और बहुत से नवयुवकों को—जो अंग्रेज़ी से प्रभावित थे—हिन्दी की सेवा के लिए प्रेरित और उत्तेजित किया। वे लगन और धुन के पक्के थे। उनमें आग्रह था। उनमें बल था। उनका व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक था और उनके हाथ में अपने समय की सब से सुन्दर और सबसे प्रभाव-शाली पत्रिका 'सरस्वती' थी। उसके लेखों के द्वारा लोगों का ध्यान भाषा की समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ और आधुनिक हिन्दी की नींव जो राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु के समय रखी गई थी, दृढ़ हो गई।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी अधिकांश वही काम किया जो साहित्य के निर्माण मे द्विवेदी जी ने किया। भाषा का आधुनिक रूप स्थिर करने में उनका भी उतना ही हाथ है जितना द्विवेदीजी, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र और चद्रधर गुलेरी आदि का। उन्होंने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रकाशनो और स्वय अपनी पुस्तकों द्वारा साहित्य के रूप स्थिर करने मे उसी प्रकार सेवा की जिस प्रकार द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के संपादन द्वारा की थी। किन्तु बाबूसाहब केवल साहित्य-निर्माण और भाषा के रूप स्थिर करने मे ही क्रियाशील नहीं थे, उन्होंने भाषा के प्रचार में भी प्रशसनीय कार्य किया। किन्तु इस क्षेत्र मे—भाषा प्रचार के क्षेत्र मे—सबसे अधिक श्रेय श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन को है। वे हिंदी साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओं मे हैं, और सम्मेलन के बीस वर्ष के इतिहास के साथ उनका निकटतम सम्बन्ध रहा है। उन्होंने सम्मेलन के कार्यक्रम द्वारा हिंदी के प्रचार और साहित्य के अध्ययन को बड़ी उत्तेजना दी। सम्मेलन की परीक्षाओं ने हिंदी-साहित्य का अध्ययन जनप्रिय कर दिया। सम्मेलन की कार्य प्रणाली का स्वाभाविक विस्तार उसके देश-व्यापी आन्दोलन में हुआ जिसके फल-स्वरूप बहुत से अन्य प्रान्तवासी भी हिंदी को देश की राष्ट्रभाषा मानने लगे।

हिन्दी उत्तरभारत के लोगों की मातृ-भाषा ही नहीं है, प्रत्युत वह सारे भारत की वह भाषा है जिसमें बगाली मराठे से, और मदरासी पंजाबी से विचारों का विनिमय करता है। हमारा प्रान्त प्राचीन समय मे 'मध्य

देश' कहलाता था। वह आर्यावर्त की संस्कृति का केन्द्र था। हरिद्वार, मथुरा, अयोध्या, नैमिषारण्य, प्रयाग तथा काशी वे चुंबक थे, जो हिन्दू जनता को देश के कोने-कोने से आकर्षित करते थे। प्राचीनकाल से दिल्ली, हस्तिनापुर, कन्नौज, मथुरा, उज्जैन, पटना और बाद मे आगरा और लखनऊ विशाल राज्यों के केन्द्र थे। अतएव इस प्रदेश की भाषा का प्रभाव सारे भारत मे था। प्राचीन समय मे सस्कृत अन्तःप्रान्तीय भाषा थी। मदरास का पण्डित काश्मीर के पण्डित से सस्कृत मे उसी सरलता और सुविधा से बात कर लेता था जिस प्रकार आज अँग्रेज़ी मे कर सकता है। किन्तु राजनैतिक उलट-फेर के कारण संस्कृत का अध्ययन कम लोगों मे सीमित रह गया। उसका स्थान मध्यदेश की भाषा ने ले लिया और वह जनता की अन्तःप्रान्तीय भाषा होगई। जब जन-तन्त्र का आरम्भ हुआ तब जनता की भाषा का भी महत्व बढ़ा और राजनैतिक कारणों से भी भारत के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता बोध होने लगी। हिन्दी के लिए वह स्थान स्वाभाविक था; क्योंकि हिन्दी के जन्म-काल से ही उत्तरी भारत मे वैष्णव-धर्म का प्रचार हो गया था और मथुरा-वृन्दावन में बोली जाने वाली भाषा को गुजरात और बगाल के वैष्णव केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं किन्तु धार्मिक भाषा भी समझते थे। प्राचीन बंगला और गुजराती भजन और कृष्ण-लीला के पद ब्रजभाषा के अत्यन्त निकट हैं। इसलिए हिन्दी सारे देश में समझी जाती थी। हिन्दी में व्याख्यान देनेवाले को पेशावर से लेकर आसाम तक, और काश्मीर से बंबई तक जनता को अपना संदेश देने मे कठिनाई न होती थी। इसलिए जब जनता मे धार्मिक सुधार का आरम्भ स्वामी दयानन्द जी ने किया, तब गुजराती होते हुए भी उन्होंने हिन्दी का ही आश्रय लिया और इसी प्रकार जब राजनैतिक आन्दोलन केवल कुछ अंग्रेज़ी शिक्षित वकीलों, व्यवसायियों और धनिकों की सीमा तोडकर जनता मे व्याप्त हुआ, तो जनता के सम्पर्क के इच्छुक गुजराती महात्मा गाधी को अँग्रेज़ी और गुजराती के सिवाय हिन्दी का भी सहारा लेना पड़ा।

किन्तु हिन्दी के प्राचीन अंतःप्रान्तीय महत्व के पुनरुत्थान के साथ उसके सामने नई समस्याएँ आ गईं। इस बीच भारतेन्दु और द्विवेदी जी के समकालीन संस्कृत-शिक्षित प्राचीन विद्वानों के स्थान मे अँग्रेजी शिक्षित नई पीढ़ी का आगमन हुआ। वह अग्रेज़ी से प्रभावित थी। जो अँग्रेज़ी नहीं भी पढ़े थे, वे बँगला आदि अन्य भारतीय भाषाओं के कारण (जो आधुनिक रूप मे स्वयं अँग्रेज़ी से प्रभावित हैं) अँग्रेज़ी से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो गए। राजनैतिक और सामाजिक कारणो से कुछ लोग उर्दू के निकट जाना श्रेयस्कर समझने लगे।

इन सब धाराओ का प्रभाव साहित्य और भाषा के रूप पर पड़ना अनिवार्य था। अँग्रेज़ी पढनेवालों को बाल्यकाल से अँग्रेज़ी पढाई जाती थी और उसका प्रभाव यह होता था कि उनकी केवल विचारशैली ही पाश्चात्य ढग की नहीं होती थी, किन्तु वे अँग्रेज़ी में सोचने भी लगे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी लिखी हिन्दी में अँग्रेज़ी का गठन आने लगा। अँग्रेज़ी शब्द-समूहों, लोकोक्तियों और मुहावरों के अनुवाद हिन्दी में, अस्वाभाविक होने पर भी, प्रयुक्त होने लगे। अँग्रेज़ी साहित्य से अत्यधिक प्रभावित होने और हिंदी का ठीक-ठीक अध्ययन न करने के कारण इन नवीन लेखकों की कल्पना, व्यंजना और मानसिक चित्र भी पाश्चात्य ढङ्ग के होते थे। उर्दू लेखकों पर फारसी भाषा का प्रभाव तो था ही, किन्तु उससे भी अधिक प्रभाव उन पर फारसी संस्कृति का था, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे भी उन्हें बुलबुल ही सुनाई पड़ने लगी। आबे-ज़मज़म, सरो, साक़ी, जाम आदि फारसी जीवन की बाते और आदर्श उनके आदर्श हो गए। उसी प्रकार अँग्रेज़ी शिक्षा के कारण उससे प्रभावित लेखकों पर अँग्रेज़ी विचार-धारा का प्रभाव पड़ा, किन्तु वे अपने को फारसी से प्रभावित लोगों की तरह पाश्चात्य वातावरण की स्थूल नक़ल से बचाए रहे। उधर बगाल मे अँग्रेज़ी प्रभाव की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी और हिन्दू नवजागरण की मरीचिका से बंगाल की कला, साहित्य और धर्म आलोकित हो उठे थे। बंकिम, स्वामी विवेकानन्द, टागोर,

डी० एल० राय तथा अवनीन्द्रनाथ की कृतियों ने हिन्दी लेखकों को प्रभावित कर दिया था। अतएव अँग्रेज़ी, उर्दू, बंगला भाषाओं और पाश्चात्य विचारधारा, हिन्दू नवजागरण-आन्दोलन, राष्ट्रीयता की लहर और अंतर्राष्ट्रीयता की आधुनिकतम क्राति से हिन्दी का वह साहित्य, जो अभी तक अपने रूप को स्थिर नहीं कर पाया था और भी आन्दोलित हो उठा और आज भी उसका रूप परिवर्त्तनशील है।

किन्तु इन द्वंद्वों के बीच में अधिकांश हिन्दी भाषा-भाषियों ने हिन्दी की प्रगति की दिशा निर्धारित कर ली है। और वह निश्चय यह है कि हिन्दी सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, जायसी, रसखान और हरिश्चन्द्र की परम्परा पर विकासशील रहेगी। वह संस्कृतजन्य है; किन्तु जनता मे प्रचलित शब्दों को अधिकाधिक अपनाएगी और उसका व्याकरण अपना ही रहेगा। उसमे विदेशी शब्द लिए जायँगे, किन्तु वे पचा लिए जायँगे और उनके बहुवचन आदि हिन्दी व्याकरण के अनुसार होंगे। नए पारिभाषिक शब्द जनता की बोली से यदि न बन सके तो सस्कृत की सहायता से बनेंगे। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अधिकाश प्रतिष्ठित लेखक इसी मान्यता के अनुयायी हैं।

इस सग्रह मे जिन लेखकों के निबंध दिए गए हैं वे सभी मान्य और लब्ध-प्रतिष्ठ हैं। पाठकों को बहुत से निबंधों मे ऊपर कहे गए द्वंद्वों के प्रभाव मिलेगे। आधुनिक गद्य-लेखकों की भाषा मे अँग्रेज़ी, उर्दू और बगला का प्रभाव झलक जाता है। यह अवांछनीय नहीं है। दूसरी भाषाओं और साहित्यों से जो कुछ लेकर हम पचा सके वह हमे लेना चाहिए, जिससे हमारे साहित्य की शक्ति बढ़े। किन्तु जो वस्तु हिन्दी में खप नही सकती और जिसके लेने से भाषा का सौष्ठव नष्ट होता है, जिससे उसकी गठन बिगड़ जाती है, उसका लेना भाषा और साहित्य दोनों के लिए अहितकर है।

निबंधों का उपयोग यह है कि पाठक उनकी ओर आकर्षित हों, पढ़ते समय उन्हें आनन्द प्राप्त हो और जब वे उसे समाप्त कर चुकें तब

उनके मस्तिष्क पर उसका प्रभाव रह जाय। आनन्ददायक लेख लोगों को पढ़ने के लिए उत्साहित करते और उन्हें पठनशील बना देते हैं। पठनशील होने पर पाठकों के अध्ययन और मननशील भी हो जाने की सम्भावना रहती है। आशा है कि इस संकलन मे पठनशील और अध्ययनशील पाठकों को अपनी रुचि के अनुसार सामग्री मिलेगी और इससे उन्हें हिन्दी-गद्य की भिन्न-भिन्न धाराओं का परिचय प्राप्त हो जायगा।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

विषय-सूची

विषय　　　　लेखक

प्रथम भाग

१—परीक्षित और कलियुग

[श्रीलल्लू लाल जी]

महाभारत के अन्त में जब श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान हुये तब पाण्डव तो महादुःखी हो, हस्तिनापुर का राज्य परीक्षित को दे हिमालय गलने गये, और राजा परीक्षित सब देश जीत धर्मराज करने लगा, कितने एक दिन पीछे राजा परीक्षित आखेट को गये तो वहाँ देखा कि एक गाय और बैल दौड़े चले आते हैं, तिनके पीछे मूसल हाथ में लिये एक शूद्र मारता आता है, जब वे पास पहुँचे तब राजा ने शूद्र को बुलाय दुःख पाय झुँझलाय कर कहा अरे तू कौन है ? अपना बखान कर जो मारता है गाय और बैल को जान कर, क्या तैंने अर्जुन को दूर गया जाना तिससे उसका धर्म नहीं पहिचाना। सुन, पाण्डु के कुल में ऐसा किसी को न पावेगा कि जिसके सोहीं कोई दीन को सतावेगा। इतना कह राजा ने खड्ग हाथ में लिया। वह देख कर खड़ा हुआ, फिर नरपति ने गाय और बैल को भी निकट बुलाय कर पूँछा तुम कौन हो बुझा कर कहो देवता हो कि ब्राह्मण और किसलिये भागे जाते हो सो निधड़क कहो मेरे रहते किसी की इतनी सामर्थ्य नहीं जो तुम्हें दुःख दे।

इतनी बात सुनी तब तो बैल शिर झुका कर बोला—महाराज ये पापरूप काले वर्ण डरावनी सूरत जो आपके सन्मुख खड़ा है

सो कलियुग है, इसी के आने से मैं भागा जाता हूँ। यह गाय रूप पृथ्वी है. सो भी इसी के डर से भाग चली और मेरा नाम धर्म है. चार पाँव रखता हूँ—तप, सत्य, दया और शौच। सतयुग में मेरे चरण बीस विस्वे थे, त्रेता में सोलह, द्वापर में बारह, अब कलियुग में चार विस्वे रहा, इससे कलि के बीच चल नहीं सकता। धरती बोली—धर्मावतार! मुझसे इस युग में रहा नहीं जाता; क्योंकि शूद्र राजा हो अधिक अधर्म मेरे ऊपर करेंगे तिनका:बोझ मैं न सह सकूँगी। इस भय से मैं भी भागती हूँ। यह सुनते ही राजा ने क्रोध कर कलियुग से कहा—मैं तुझे अभी मारता हूँ, वह थरथरा राजा के चरणों पर गिर गिड़गिड़ा कर कहने लगा कि पृथ्वीनाथ! अब तो मैं तुम्हारी शरण आया मुझे कहीं रहने को ठौर बताइये, क्योंकि तीन काल और चारों युग ब्रह्मा ने बनाये हैं सो किसी भाँति मेटे नहीं मिटेंगे। इतना वचन सुनते ही राजा परीक्षित ने कलियुग से कहा कि तुम इतनी ठौर रहो—जुएँ, झूँठ, मद की हाट, वेश्या के घर, हत्या, चोरी और सुवर्ण में। यह सुन कलि ने तो अपने स्थान को प्रस्थान किया और राजा ने धर्म को मन में रख लिया, पृथ्वी अपने स्वरूप में मिल गई राजा फिर नगर में आये और धर्मराज करने लगे। कितने एक दिन बीते राजा फिर एक समय आखेट को गये और खेलते खेलते प्यासे भये, शिर के मुकुट में तो कलियुग रहता ही था उसने अपना अवसर पा राजा को अज्ञान किया, राजा प्यास के मारे कहाँ आते हैं कि जहाँ लोमश ऋषि आसन मारे नयन मूँदे हरि का ध्यान लगाये तप कर रहे थे, उन्हें देख राजा परीक्षित मन मे कहने लगे कि इन्होंने अपने तप के घमंड से मुझे देख आँखें मूँद ली हैं, ऐसी कुमति ठान एक मरा साँप वहाँ पड़ा था सो धनुष से उठा ऋषि के गले में डाल अपने घर आया। मुकुट उतारते ही राजा को ज्ञान हुआ तो सोचकर कहने लगा कि कञ्चन में कलियुग का वास है यह मेरे शीश पर था इसीसे मेरी ऐसी कुमति हुई जो मरा सर्प ले

ऋषि के गले में डाल दिया सो मैं अब समझा कि कलि ने मुझसे पलटा लिया, इस महापाप से कैसे छूटूँगा। वरन् धन, जन, स्त्री और राज मेरा क्यों न गया सब आज, न जानूँ किस जन्म में यह अधर्म जायगा जो मैंने ब्राह्मण को सताया है। राजा परीक्षित तो यहाँ इस अथाह शोक-सागर में डूब रहे थे और जहाँ लोमश ऋषि थे तहाँ कितने एक लड़के खेलते हुए जा निकले, मरा साँप उनके गले में देख अचम्भे में रहे और घबरा कर आपस में कहने लगे कि भाई कोई इनके पुत्र से जाकर कह दे, जो उपवन में कौशिकी नदी के तीर ऋषियो के बालकों में खेलता है. एक सुनते ही दौड़ा वहीं गया जहाँ शृङ्गी ऋषि छोकरों के साथ खेलता था। कहा बन्धु तुम यहाँ क्या खेलते हो, कोई दुष्ट मरा साँप तुम्हारे पिता के कण्ठ में डाल गया है। सुनते ही शृङ्गी ऋषि के नेत्र लाल हो आये, दाँत पीस पीस लगा थरथर काँपने और क्रोध कर कहने कि कलियुग में राजा उपजे हैं अभिमानी, धन के मद से अन्धे हो गये हैं दुख-दानी, अब मैं उनको देहूँ शाप, वही मीच पावैगा आप। ऐसे कह शृङ्गी ऋषि ने कौशिकी नदी का जल चुल्लू में ले राजा परीक्षित को शाप दिया कि यही सर्प सातवें दिन तुझको डसेगा। इस भाँति राजा को शाप दे अपने बाप के पास आ गले से साँप निकाल कहने लगा कि हे पिता! तुम अपनी देह सँभालो, मैंने उसे शाप दिया है जिसने आपके गले में मरा सर्प डाला था। यह बात सुनते ही लोमश ऋषि ने चैतन्य हो नयन उघाड़ अपने ज्ञान, ध्यान से विचार के कहा—अरे पुत्र! तूने यह क्या किया? क्यों शाप राजा को दिया? उसके राज्य में हम सुखी थे और कोई पशु पक्षी भी दु:खी न था ऐसा धर्मराज था कि सिंह गाय एक साथ रहते और आपस में कुछ न कहते, हे पुत्र! जिनके देश में हम बसे थे क्या हुआ तिनके हाथ से मरा हुआ साँप डाला गया, उसे शाप क्यों दिया तनक दोष पर ऐसा शाप तैंने दिया, बड़ा ही पाप किया, कुछ विचार मन में न किया। गुण छोड़ औगुण लिया, साधु को

चाहिये शील स्वभाव से रहै, आप कुछ न कहै और की सुन ले सब का गुण ले अवगुण तजै। इतना कह लोमश ऋषि ने एक चेले को बुला कर कहा तुम राजा परीक्षित को जाके चिता दो जो तुम्हें शृङ्गी ऋषि ने शाप दिया है भले लोग तो दोष देहींगे पर वह सुन सावधान तो हो जाय। इतना वचन गुरु का मान चेला चला वहाँ आया जहाँ राजा बैठा सोच करता था, आते ही कहा—महाराज! तुम्हें शृङ्गी ऋषि ने वह शाप दिया है कि सातवें दिन तक्षक डसेगा, अब तुम अपना कार्य करो जिससे कर्म की फाँसी से छूटो। राजा सुनते ही प्रसन्न हो हाथ जोड़ कहने लगा कि मुझ पर ऋषि ने बड़ी कृपा की जो शाप दिया—क्योंकि मैं माया-मोह के अपार शोक-सागर में पड़ा था सो निकाल बाहर किया। जब मुनि का शिष्य बिदा हुआ तब राजा ने आप बैराग लिया और जनमेजय को बुलाय राजपाट देकर कहा—बेटा! गो ब्राह्मण की रक्षा कीजो और प्रजा को सुख दीजो। इतना कह आये रनिवास, देखी नारी सभी उदास, राजा को देखते ही रानियाँ पावों पर गिर रो रो कहने लगीं—महाराज! तुम्हारा बियोग हम अबला न सह सकेंगी इससे तुम्हारे साथ जी दें तो भला, राजा बोला—सुनो स्त्री को उचित है कि जिसमें अपने पति का धर्म रहै सो करे, उत्तम कार्य में बाधा न डाले। इतना कह धन जन कुटुम्ब और राज्य की माया तज निर्मोही हो अपना योग साधने को गंगा के तीर जा बैठा इसको जिसने सुना वह हाय हाय कर पछताय पछताय बिन रोये न रहा और जब ये समाचार मुनियों ने सुना कि राजा परीक्षित शृङ्गी ऋषि के शाप से मरने को गङ्गा के तीर आ बैठा है तब व्यास, वशिष्ठ, भरद्वाज, कात्यायन, पाराशर, नारद, विश्वामित्र, वामदेव, जमदग्नि, आदि अट्ठासी सहस्र ऋषि आये, और आसन बिछाय बिछाय पाँत पाँत बैठ गये और अपने अपने शास्त्र विचार विचार अनेक भाँति के धर्म सुनाने लगे कि इतने में राजा की श्रद्धा देख पोथी काँख में लिये दिगम्बर भेष श्रीशुक-

देव जी भी आ पहुँचे उनको देखते ही जितने मुनि थे सबके सब उठ खड़े हुए, और राजा परीक्षित भी हाथ बाँध खड़ा हो विनती कर कहने लगा—हे कृपानिधान मुझ पर बड़ी दया की जो इस समय मेरी सुध ली। इतनी बात कही तब शुकदेव मुनि भी बैठे तो राजा ऋषियों से कहने लगे कि महाराज शुकदेव व्यास जी के तो बेटे और पाराशर जी के पोते तिनको देख तुम बड़े बड़े मुनीश होके उठे सो तो उचित नहीं इसका कारण कहो जो मेरे मन का सन्देह जाय, तब पाराशर मुनि बोले—हे राजा! जितने हम बड़े बड़े ऋषि हैं पर ज्ञान में शुकदेव जी से छोटे हैं, इसलिये सब ने शुक का आदर मान किया, किसी ने इस आश पर कि ये तारण तरण हैं क्योंकि जब से जन्म लिया है तबहीं से उदासी हो बन-बास करते हैं और राजा तेरा भी बड़ा पुण्य उदय हुआ जो शुक-देवजी आये, ये सब धर्मों से उत्तम धर्म कहेंगे तिससे तू जन्म मरण से छूट भवसागर पार होगा; यह बचन सुन राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेवजी को दण्डवत् कर पूँछा कि महाराज! मुझे धर्म समझाय के कहो कि किस रीति से कर्म के फन्दे से छूटूँगा, सात दिन में क्या करूँगा! अधर्म है अपार, कैसे भवसागर हूँगा पार। श्रीशुकदेवजी बोले—राजा तू थोड़े दिन मत समझ, मुक्ति तो होती है एक ही घड़ी के ध्यान में, जैसे षट्वाङ्ग राजा को नारद मुनि ने ज्ञान बताया था और उसने दो ही घड़ी में मुक्ति पाई थी तुझे तो सात दिन बहुत हैं। जो एक चित्त होके ध्यान से सब समझो अपने ही ज्ञान से, कि क्या है देह किसका है बास कौन करता है इसमें प्रकाश, यह सुन राजा ने हर्ष कर पूँछा, हे महा-राज! सब धर्मों से उत्तम धर्म कौनसा है सो कृपाकर कहो। तब शुकदेवजी बोले—हे राजा! जैसे सब धर्मों में वैष्णव धर्म बड़ा है तैसे पुराणो में श्रीमद्भागवत, जहाँ हरि भक्त यह कथा सुनावें हैं, तहाँ ही सर्व तीर्थ और धर्म आवें हैं जितने हैं, पुराण पर नहीं हैं भागवत के समान, इस कारण मैं तुझे बारह स्कन्ध महापुराण

सुनाता हूँ जो व्यास मुनि ने मुझे पढ़ाया है, तू श्रद्धा समेत आनन्द से चित्त दे सुन। तब तो राजा परीक्षित प्रेम से सुनने और शुकदेवजी मन से सुनाने लगे। नवमस्कन्ध की कथा जब मुनि ने सुनाई तब राजा ने कहा—हे दीनदयाल अब दयाकर कृष्णावतार की कथा कहिये, क्योंकि हमारे सहायक और कुल पूज्य वही हैं। शुकदेवजी बोले—हे राजा! तुमने मुझे बड़ा सुख दिया जो यह प्रसंग पूँछा, सुनो मैं प्रसन्न हो कहता हूँ। यदुकुल में पहिले भजमान नाम राजा थे तिनके पुत्र पृथु अरु पृथु के बिदूरथ, तिनके शूरसेन जिन्होंने नवखण्ड पृथ्वी जीत के यश पाया उनकी स्त्री का नाम मरिष्या, विसके दश लड़के और पाँच लड़कियाँ तिन में बड़े पुत्र बसुदेव जिनकी स्त्री के आठवें गर्भ में श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जन्म लिया जब बसुदेवजी उपजे थे तब देवताओं ने सुरपुर में आनन्द के बाजने बजाये और शूरसेन की पाँचों पुत्रियों में से सब से बड़ी कुन्ती थी जो पाण्डु को ब्याही थी, जिसकी कथा महाभारत में गाई है। और बसुदेवजी पहिले तो रोहण नरेश की बेटी रोहिणी को ब्याह लाये। पीछे सत्रह अठारह पटरानी हुई, तब मथुरा में कंस की बहन देवकी को ब्याहा। तहाँ आकाशबाणी हुई कि इस लड़की के आठवें गर्भ में कंस का काल उपजेगा। यह सुन कंस ने बहन बहनोई को एक घर में क़ैद किया और श्रीकृष्ण ने वहाँ ही जन्म लिया इतनी कथा सुनते ही राजा परीक्षित बोले महाराज कैसे जन्म कंस ने लिया?

२—गद्यकाव्य मीमांसा

[श्रीअम्बिकादत्त व्यास]

शास्त्र में लिखा है कि "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" अर्थात् कवि की कसौटी गद्य ही है; क्योंकि कविता में तो एक अंश के

सुन्दर होने से भी सारा कवित्त अच्छा लगने लगता है, पर गद्य में यह बात नहीं है। गद्य तो सर्वाङ्ग सुन्दर हो, तभी अच्छा होता है। उसमें एक अंश भी गड़बड़ हो तो गद्य अपने लेखक की बुद्धि का परिचय दे देता है। फिर पद्य में तो छन्द के कारण स्वच्छन्द शब्दों का विन्यास नहीं हो सकता; क्योंकि उतने ही लघु गुरु के नियम से कसे हुए शब्द चाहिये; पर यह बात गद्य में नहीं है। गद्य में यदि यथोचित शब्द का प्रयोग न किया जाय तो यह कहने को जगह नहीं रहती कि क्या करें छन्द के परवश हैं; और पद्य का छन्द छोटा हो तो अपनी कल्पना का आकार भी कूट-पीट के छोटा ही करना पड़ता है और आँख के आगे विशेष उक्ति रहते भी थोड़े ही में विषय समाप्त करना पड़ता है। यह अंडस गद्य में नहीं है। गद्य में तो जितनी बात हृदय में आवे, उसे बिना तोड़े, मरोड़े यथास्थित प्रकाशित कर सकते हैं। इसलिये गद्य में यदि किसी से सुन्दरता-पूर्वक किसी विषय का प्रतिपादन न बने तो वह यह भी नहीं कह सकता कि क्या करे छन्द ही पूरा हो गया! और प्रायः पद्य में पदान्त के अनुप्रास (काफिया रदीफ) का बड़ा बखेड़ा रहता है, जिसके कारण कभी अप्रकृत शब्द का भी प्रयोग करके अपने स्वभाव सुन्दर अभिप्राय में धक्का लगाना पड़ता है और कभी कभी भाषा में कुछ विकृति करके कितने ही नये शब्द बनाने पड़ते हैं जिनसे तत्त्वण भी प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है और भविष्य काल के लिये अपभ्रंश शब्दो की नींव पड़ती है। गद्य में यह बखेड़ा भी नहीं है। गद्यकर्त्ता यह भी नहीं कह सकता कि पदान्त के कारण हमारी कविता में माधुर्य घट गया। यहाँ तो कुछ भी मधुरता की घटी हो तो अपनी ही अज्ञता माननी पड़ेगी। जैसे चौपड़ हारने वाले अपनी भूल पासे के मत्थे मढ़ देते हैं, पर शतरंज वाले को तो अपनी भूल मानने छोड़ गति नहीं। वैसे ही पद्यकर्त्ता अपने अपाटव पर भी वहुत बात बना सकते हैं, परन्तु गद्यकर्ता को शरण नहीं। गद्य में दर्पण की भाँति कवि की पूरी-

पूरी शक्ति प्रतिफलित होती है। इन्हीं कारणों से 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' यह पुरानी कहावत चली आती है।

भारतवर्ष में क्या जानें किस कारण से गद्य-काव्यों की बड़ी ऊनता है। यहाँ के पुस्तकालय के अवलोकन से विदित होता है कि जिन दिनों सूत्र भाष्यों की धूम थी, उन दिनों गद्य-लेख का अत्यन्त ही प्रचार था; पर वह गद्य दार्शनिक लपेट का था, कुछ काव्य के सौन्दर्य का नहीं और पक्षधर मिश्र, गदाधर महाचार्य, जगदीश भट्टाचार्य के अनन्तर उस दार्शनिक लेख का भी वह उदार क्रम जाता रहा, किन्तु अब तो सभी प्रकार के लेखों में न्याय शास्त्र का पलोथन लगने लगा। यहाँ तक कि काशीस्थ प्रातःस्मरणीय काशीनाथ शास्त्री के समय से व्याकरण भी न्याय शास्त्र ही हो गया। यह बात भी दार्शनिक हुई। यदि काव्य की रङ्गभूमि में पहुँचिये तो वहाँ केवल पद्यों ही का नृत्य पाइयेगा। गद्य-काव्यों का नेपथ्य में भी मिलना कठिन है।

वैक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी में सुबन्धु कवि ने 'वासवदत्ता' नामक एक गद्य-काव्य लिखा। इसमें शब्दो का तो वस्तुतः अपूर्व चमत्कार है। पद पद पर श्लेष और पद पद पर यमक है। परन्तु स्वभावोक्ति तो जहाँ तहाँ, कवि को कहानी बाँधना भी न आया। तो भी इन दिनों कोई भी ऐसा गद्य-काव्य था ही नहीं। इसलिये वासवदत्ता की अपूर्व कीर्त्ति घर घर फ़ैल गई और यह बात प्रसिद्ध हो गई कि 'कवीनामगलद्दर्पोनूनं वासवदत्तया'। इसी समय वृहत्कथा नामक एक और भी कहानियो का ग्रन्थ था और उससे भी उत्तम बाण ने कादम्बरी बनाई। इस कादम्बरी का पूर्वार्द्ध बाण का बनाया है और उतने ही पर उनका देहान्त हो गया तब शेष भाग उनके पुत्र ने बनाया। धन्य इनका उदार हृदय कि ऐसी कविता की कि पिता के ग्रन्थ से एक मेल मिला दिया और ऐसी पितृभक्ति की कि अपना नाम तक ग्रन्थ में न लिखा, केवल बाण-तनय नाम से ही परिचय दिया।

इन ग्रन्थों की समालोचना तो कालान्तर में की जायगी; परन्तु यहाँ हमने इतिहास मात्र दिखला दिया है कि संस्कृत में पद्यों की तो ऐसी उन्नति हुई कि कोष, वैद्यक, ज्योतिष तक श्लोक-बद्ध हो गये। परन्तु गद्य सुबन्धु, बाण, दण्डी के कारण कुछ उमड़ा, तो भी आगे को विकसित न होने पाया।

इन दिनों यूरोप देश के नाना विधि उपन्यासों के प्रचार होने के कारण एतद्देश निवासियों की भी छिपी हुई गद्य-लेख प्रतिभा फिर चमकने लगी और दिन दिन भाषा में गद्य काव्यों का अधिकाधिक प्रचार होने लगा। बङ्ग भाषा के शृङ्गार करने वाले महामहोदय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने कपालकुण्डला, आनन्दमठ आदि ऐसे मधुर गद्य-काव्य लिखे कि उनके देखने से भारतीय आर्य के हृदय की सारवत्ता का परिचय होने लगा। केवल बङ्ग भाषा ही में नहीं, साथ ही गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में भी गद्य काव्यों ने जन्म ग्रहण करना आरम्भ किया और पीछे हिन्दी में भी गद्य काव्य चमकने लगे।

भाषा के ग्रन्थों में तो प्रेमसागर, सिंहासन बत्तीसी, शुकबहत्तरी आदि कतिपय ग्रन्थ छोड़ और ग्रन्थ अब थोड़े दिनों से निकलने लगे हैं। संवाद पत्रों ने यह उपकार किया है। इन दिनों के भी नाना विधि कवि सभाओ के सभ्यों को समस्या-पूर्त्ति छोड़ गद्य अच्छा ही नहीं लगता। अथवा यों कहिये कि कवित्त और सवैया छोड़ और छन्दों मे भी कविता करना उनने प्रायश्चित्त समझ रक्खा है तो भाषा-साहित्य में इसके स्थिर लक्षण और भेद की आशा रखना व्यर्थ है।

अपनी ओर से लक्षण और भेद बनाने के पूर्व एक बार सस्कृत ग्रन्थों ने गद्य काव्य के विषय मे क्या लिखा है इसकी परीक्षा अत्यावश्यक है।

जिसमें पद्य न बाँधे जायँ; वह गद्य कहलाता है। वह चार प्रकार का है :—

१—मुक्तक, २—वृत्तगन्धि, ३—उत्कलिका प्राय, ४—पूर्णांक।

चारों के लक्षण क्रमशः ये हैं :—

प्रथम समास-रहित; द्वितीय पद्यमात्र सहित; तृतीय दीर्घ समास-युक्त और चतुर्थ अल्प समास।

गद्य लक्षण का अवश्य ही यह तात्पर्य है कि जिस प्रबन्ध में पूरा पद्य न हो उसे गद्य कहते हैं, क्योंकि पद्य का भाग भी न हो, ऐसा मानें तब तो वक्ष्यमाण वृत्तगन्धि नामक गद्य में अव्याप्ति होगी।

अब आचार्यों का पथ छोड़ स्वतन्त्र रीति से गद्य विभाग किया जाय तो यों हो सकता है :—

१—ससमास, २—असमास, ३—मिश्र।

इनमें ससमास गद्य तीन प्रकार का है :—

१—अल्प समास २—दीर्घ समास और ३—संकट।

ससमास—जैसे 'प्रणतपाल, गोपाल बाल श्री नन्दलाल की जय।'

असमास—'यह चन्द्रमा नहीं है, यह विरहियों का जी जलाने की अँगीठी है।' मिश्र—'देखो तुम्हारी मुख-समता पाने के लिये कमलसमूह सरोवर में एक पाँव से खड़े हो अनुष्ठान कर रहे हैं। जिसे केसर समझते हो, वह उनकी पीत जटा है, पराग भी पीत परवास तिलक है, भ्रमर-पंक्ति रुद्राक्ष-माल है और भ्रमर-झङ्कार ही मन्त्रोच्चार की मधुर ध्वनि है।'

इन प्रत्येक गद्यों के पुनः तीन भेद हैं :—

१—कुसुम, २—गुच्छ, ३—वाटिका।

इच्छा हो तो इन्हीं को क्रमशः मुक्तक, उत्कलिका और पूर्णांक नाम से कहिये (परन्तु पुराने लक्षणानुसार नहीं)।

१—जिसमें छोटे छोटे वाक्य हों वह कुसुम, २—जिसमें बड़े

बड़े वाक्य हों वह गुच्छ और ३—जिसमें दोनों हों, वह बाटिका कहलाते हैं।

उदाहरण

१—कुसुम—हा ! लक्ष्मण ! कहाँ गई वह मर्यादा ? कहाँ गया वह धर्म ? अरे बड़े भाई की बात नहीं सुनते। हा ! त्रेता ही में घोर कलि आ गया। हाय रे निर्दय लक्ष्मण, हाय !

२—गुच्छ—वामनावतार के समय नारायण के चरण पर ब्रह्मा के कमण्डलु-जल के प्रवाह से उत्पन्न हुई जिस गङ्गा को कोटि कोटि सिद्ध गन्धर्वों की कुसुमाञ्जलि के पुष्प-समूहों को उत्तुङ्ग तरङ्गों-द्वारा उछालती हुई, गगन-मण्डल से आती हुई देख परम प्रेम से देवाधिदेव महादेव ने जटामण्डल-मण्डित मस्तक पर स्थान दिया।

३—बाटिका—इसका उदाहरण देना अनावश्यक है।

ये सब गद्य १—वृत्तगन्धि, २—अवृत्त गन्धि, ३—संकीर्णक इस भेद से पुनः तीन प्रकार के होते हैं।

१—वृत्तगन्धि गद्य वह कहलाता है, जिसमें कुछ नियत मात्राओं के समूह की अथवा नियत वर्णों के समूह की आवृत्ति बराबर चले। इसमें यदि प्रत्येक आवृत्ति में अनुप्रास हो तो अधिक मधुर होता है. जैसे केशव ने अपने नृसिंह चम्पू में :—

"जय जय मुरहर मन्मथ सुन्दर देव गदाधर दीनदयाकर, बोध सुधाकर, पालति भूसुरदनुज विदारण, दुरित, विदारण"—इत्यादि गद्य लिखे हैं।

२—अवृत्त गद्य वह है जिसमें पूर्वोक्त नियम न हो। इसके उदाहरण अनेक गद्य समझिए।

३—संकीर्ण गद्य वह है, जिसमें कुछ वृत्तगन्धि और कुछ अवृत्तगन्धि दोनों का मेल पाया जाय। इसका उदाहरण अनावश्यक है।

इनके अतिरिक्त भी यमक, श्लेषादि के अनुसार गद्यो के और अनेक भेद हो सकते हैं, पर अलङ्कार रीति आदि के बहुत्व से भेद बढ़ाते जाना केवल व्यर्थ प्रस्तार बढ़ाना है। इसलिये इस प्रकरण को यहाँ ही समाप्त करते हैं।

३—विद्या के दो नेत्र

[श्रीबालकृष्ण भट्ट]

साहित्य और विज्ञान ये दोनों मानो विद्या के दो नेत्र हैं। जो साहित्य में प्रवीण है और विज्ञान नहीं जानता अथवा विज्ञान में पूर्ण पंडित है और साहित्य नहीं जानता, वह मानो एक आँख का काना है और जो दोनो में से एक भी नहीं जानता, वह अन्धा है। विद्या "विद्" धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है और नेत्र 'नी' धातु से है, जिसके मानी ले जाने वाले के हैं। साहित्य और विज्ञान ये दोनों मनुष्य को ज्ञान की ओर ले जानेवाले हैं। ज्ञान से मतलब यहाँ घट पट आदि लौकिक पदार्थो को जान लेने से नहीं है—वरन् इस स्थावर, जङ्गम जगत् का आदि कारण क्या और कौन है तथा अखण्ड ऐश्वर्यवान् उस सच्चिदानन्द सर्वगत सर्वतः परिपूर्ण का इस अनेक खण्ड में विभक्त दुःखौघ व्याप्त, अचिर-स्थायी, मरुमरीचिका सदृश मिथ्या जगत् से क्या और कैसा सम्बन्ध है—इसका जानना ज्ञान कहा जायगा। साहित्य की हमारे यहाँ कभी कमी नहीं रही। संस्कृत का साहित्य सदा से सर्वाङ्ग पूर्ण था। कहीं पर किसी अंश में किसी तरह की कमी इसमें नहीं पाई गई। आदि में वेद का साहित्य सर्वाङ्ग पूर्ण था। भाषा का गौरव जिन जिन बातों में गिना जाता है, वे सब उसमें पाई

जाती हैं। उसी वेद की इबारत का अनुकरण करते हुए ऋषियों ने सूत्रो की कल्पना की। छहो दर्शन, व्याकरण, कल्प, निरुक्त तथा और और विषय सूत्र के आकार में पाये जाते हैं जिनमें साहित्य के सिवाय अनेक वैज्ञानिक विषयो का भी सूत्रपात किया गया है। प्रत्येक विषय पर ऋषियों के सूत्र पाये जाते हैं। जिस पर ऋषियो का सूत्र नहीं है उसका प्रमाण नहीं लिया जाता। मुहूर्त्त ग्रन्थों पर ऋषियों का ग्रन्थ नहीं है। इससे मालूम होता है कि अपनी दूकानदारी कायम रखने को ब्राह्मणों ने मुहूर्त्तों की कल्पना कर ली है। नहीं तो क्या कारण कि कामशास्त्र ऐसे असत शास्त्र पर तो वात्सायन का सूत्र हो पर मुहूर्त्तो के सम्बन्ध में आर्ष प्रमाण कुछ भी न हो। इससे सिद्ध होता है कि मुहूर्त्तों की कल्पना हाल की है और निरी दूकानदारी है। जब हिन्दुस्थान ग़ुलामी की आदतो में पड़ गया और निहायत गिर गया, तब मूर्ख प्रजा को मुट्ठी में करने के लिये ब्राह्मणों ने तिथि, वार, नक्षत्र, योग करण के द्वारा पञ्चाङ्ग कायम कर मुहूर्त्तो की कल्पना की। बिना ब्राह्मण के काम न चले इसलिये कदम कदम पर साइत और मुहूर्त्त लोग विचरवाने लगे। यहाँ तक कि एक पाँव रख दूसरा पाँव बिना साइत मुहूर्त्त के न रक्खेंगे, जो इस बात का मानो सबूत है कि हम लोगों में कहाँ तक मानसिक बल का अभाव है।

उपरान्त उन्हीं सूत्रों की वृत्ति और भाष्य बने, जिससे उन सूत्रों के अर्थ और तात्पर्य विशद किये गये। कुमारिल, वाचस्पति, सायन, माधव आदि बड़े बड़े दार्शनिक पण्डित हुए। उस समय वेद की भाषा से अलग एक नई तरह की भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। वेद तथा ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जिन्हें हम आर्ष कहेंगे, यद्यपि यवनों के उपद्रव के समय बहुत से उनमें लुप्त हो गये, फिर भी उनमें के बचे बचाये मुद्रांकित करा चिरस्थायी कर दिये गये हैं। इससे निश्चय होता है कि संस्कृत-साहित्य इतना अगाध है कि

उसका थहाना अथवा इस साहित्य-महोदधि के पार जाने के लिये सौ वर्ष की जिन्दगी भी काफी नहीं है। योगी या कोई दैवी शक्ति सम्पन्न की तो बात ही निराली है। साधारण मनुष्य का काम नहीं है कि उसके समस्त साहित्य को पीकर बैठ रहे। जिस समय कुमारिल आदि दार्शनिक हुए; लगभग उसी समय के आगे या पीछे प्रत्येक विषय के प्रतिभाशाली अनेक विद्वान् हुए। कैयट, वामन, जयादित्य आदि कई प्रसिद्ध वैयाकरण; आर्यभट्ट, बाराह-मिहिर आदि गणितज्ञ; कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, बाण, मयूर, माघ, भारवि, दण्डी आदि कवि; अपने अपने विषय में अद्भुत प्रतिभावान् हुए। कविता के संबंध में जगन्नाथ पण्डितराज के उपरान्त फिर कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जो विशिष्ट कवियों की श्रेणी में गिना जाय। न दीक्षित और नागेश से अधिक कोई वैयाकरण हुआ जो आज पुराने पंडितों की बराबरी का कहा जा सके। ऐसे ही गदाधर और जगदीश भट्टाचार्य के समकक्ष का कोई नैयायिक उनके उपरान्त नहीं हुआ। आधुनिक ग्रन्थकार और पंडितों ने आर्ष प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इनके लेख का मुख्य उद्देश्य केवल वितण्डावाद और खण्डन-मण्डन मात्र रह गया। सहज से सहज शब्दों में पदार्थ का निर्णय और तत्व का अवबोध जैसा उन ऋषियों की चातुरी का लक्ष्य था सो न रहा। इसीसे इस समय के अधिकांश पंडित जन्म भर पढ़ पढ़ कर पचते हैं, पर न तो सांसारिक व्यवहार में वे चतुर होते हैं और न उन्हें वास्तविक तत्त्व ज्ञान ही होता है। यह बात शङ्कराचार्य के जन्म के उपरान्त हमारे संस्कृत साहित्य में उपज खड़ी हुई। ऋषियों के लेख में वादविवाद से कोई सरोकार न रख, केवल तत्त्व क्या है, इसी पर उनका लक्ष्य था। यदि उसी क्रम का अनुसरण हम बराबर किये जाते तो हमारी जाति में वैसी कमजोरी न आती जैसी तत्त्वावबोध से बहिर्मुख होने के कारण हम में आ घुसी है। इधर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए, उधर हमारे

पंडित खंडन मंडन में लग आपस की फूट और ईर्ष्या, द्रोह तथा दलादली को बढ़ाते ही गये। इससे आधुनिक पंडितों के लेखों में मुल्की जोश का कहीं छुवाव तक नहीं हुआ। बहुत दिनों तक तो पंडितों की यह चेष्टा रही कि कैसे बौद्ध और जैनियों को परास्त और उनका नाश कर वैदिक धर्म को फिर से देश में स्थापित करें। वाचस्पति आदि ग्रन्थकार तथा खंडनखाद्य आदि ग्रन्थों का यही क्रम रहा। इसमें सन्देह नहीं, इस समय संस्कृत की उन्नति बहुत हुई। इस नई प्रणाली के बहुत अच्छे कुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थ बने, जिनको लगाने या विचारने में दिमाग़ चक्कर में आ जाता है, पर उन पुस्तकों की पंक्ति हल नहीं होती। ऋषियों के ग्रन्थ की पंक्ति तथा शब्द बड़े सहज हैं; पर अर्थ की गम्भीरता उनमें इतनी भरी हुई है कि विद्या-रसिक को उनके हल होने पर बहुमूल्य रत्न हाथ लग जाता है और लड़का पैदा होने की खुशी भी उस विनोद की खुशी के मुक़ाबिले तुच्छ मालूम देती है। इसी से हम कई बार लिख चुके हैं कि आर्य जाति के विजित हो जाने पर हम नेता हैं, हम स्वच्छन्द हैं—यह भाव हम लोगों में से उठ गया।

संस्कृत कहाँ तक साहित्य से भरी पूरी है—सो हम दिखा चुके। साथ ही विज्ञान की भी झलक जहाँ तहाँ आर्ष ग्रन्थो में अच्छी तरह पाई जाती है। रहे नवाविष्कृत बहुत से नये नये विज्ञान, जिनमें भाप और बिजली की करामातों का भरपूर निदर्शन पाया जाता है; जिन पर ख्याल करने से बहुत दूरदर्शी विद्वानों की भी बुद्धि चकरा उठती है, उनकी कमी अवश्य संस्कृत में माननी पड़ेगी। हमारे पूर्वज सर्वथा विज्ञान के ज्ञान से विमुख थे, यह तो कभी न कहा जायगा क्योंकि जहाँ तहाँ विमान आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसी कोई वस्तु अवश्य रही होगी; किन्तु उनके बनाने की क्या रीति थी इसका विशेष वर्णन कहीं पर कुछ नहीं है। शतघ्नी, अग्नि-अस्त्र, वायु-अस्त्र आदि अस्त्रों

का प्रयोग पुराणों में पाया जाता है। वाल्मीकि ने जृम्भकास्त्र और व्यास ने ब्रह्मास्त्र को लिखा है। निश्चय ये दोनों कोई ऐसे शस्त्र थे जिन्हें वही चला सकता था जो उतना विज्ञान जानता हो। वाल्मीकि ने मेघनाद और व्यास ने शाल्व को इस विद्या में बड़ा प्रवीण लिखा है और जृम्भकास्त्र की भी बड़ी महिमा गाई है। निश्चय यह कोई ऐसा शस्त्र रहा जिसके चलाने पर हवा से उसका स्पर्श होने से उसमें कोई ऐसी बात पैदा हो जाती थी जिससे शत्रु के दलवाले मुग्ध और बेहोश हो जाते थे। इससे प्रकट है कि इस समय के रसायनिक विज्ञान से भी वे अनभिज्ञ न थे। जब हमारे पहिले के ब्राह्मण ज्ञान से सुसम्पन्न थे तब ज्ञान के इन दो नेत्रों में एक से वञ्चित रहे हों, ऐसा सम्भव नहीं। विज्ञान की इतनी उन्नति चाहे तब न रही हो पर सम्पूर्णतया अभाव था, सो भी कभी न माना जायगा। विज्ञान के किस विभाग में हमारे पुराने आर्य हेठे रहे हैं तथा इनके वंशधर अब के लोग दिमाग़ी क़ूबत में किसी जाति से कम हैं—यह बहुत अच्छी तरह परख लिया गया है और कई बार कसौटी से तय हो चुका है कि यह इनके परिष्कृत मस्तिष्क ही का सबब है कि हिन्दुस्तानी नौजवान तालीम के हर एक हिस्से में इतनी कड़ाई होने पर भी फबकते आते हैं।

४—क्षमा

[श्रीमाधव प्रसाद मिश्र]

क्षमा धर्म्म का दूसरा लक्षण है। जो पुरुष धीर होता है, क्षमा भी उसी को ग्रहण करती है। धैर्य के बिना क्षमाशील होना कठिन ही नहीं वरञ्च असम्भव है।

परापराध सहन करने का नाम क्षमा है। जैसे कि वृहस्पति जी कहते हैं—

वाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥

अर्थात् किसी के दुर्वचन कहने पर या मार देने पर भी न तो आप क्रोधित होता है और न उसे मारता है उसको क्षमा कहते हैं। उस पुरुष का नाम क्षमाशील है, जो दुःखित किये जाने पर भी अचल. अटल बना रहे, धर्ममार्ग से विचलित न हो।

यों तो संसार में सभी लोग दूसरों के अपराध सहन किया करते हैं। प्रबल पुरुषों से पुनः पुनः तिरस्कृत होने पर भी बेचारे दुर्बलपुरुष कुछ कहने का साहस नहीं करते। क्षमताशाली अत्याचारी राजपुरुषों से प्रपीड़ित होने पर भी दीन प्रजा बारंबार रोकर चुप रह जाती है, किन्तु यह सहनशीलता क्या क्षमा कही जा सकती है? कभी नहीं। क्योंकि क्षमा नाम उस गुण का है, जिससे शक्तिशाली पुरुष शक्ति रखने पर दूसरे के अपराध क्षमा कर दे। और जो पुरुष कायरता वा असामर्थ्य से उस कार्य के करने में स्वभावतः असमर्थ है, उसकी क्षमा क्षमा कहलाने योग्य नहीं है।

हाँ, यदि किसी के दुःख पहुँचाने पर उसके अन्तःकरण में अपने शत्रु के प्रति किसी प्रकार का कुभाव वा प्रतिकार की इच्छा तक उत्पन्न न हो और उस कार्य के लिये वह घृणित न समझा जाय, तो वह पुरुष भी निस्सन्देह क्षमावान् है, क्योंकि जिस बात की शक्ति उसमें विद्यमान थी उससे उसने काम नहीं लिया। माना कि वह दीनपुरुष जिसको हमने धनमद से मत्त होकर अभी मारा है रोकर वा चिल्लाकर हमारी कुछ हानि नहीं कर सकता तो भी क्या इस बात के लिये वह प्रशंसनीय नहीं है कि वह रो सकता था; पर रोया नहीं। हमारा बुरा चिन्तन भी कर सकता था पर उसने वैसा नहीं किया प्रत्युत् उसके चित्त में इसके प्रतिकूल विकार तक न हुआ!

गृहस्थ के लिये क्षमा अत्यावश्यक है जैसा कि—

"गृहस्थस्तु क्षमायुक्तो न गृहेण गृही भवेत्।"

अर्थात् केवल घर बनाने से कोई गृहस्थ नहीं होता, वरन् क्षमायुक्त होने से गृहस्थ बनता है। यदि गृहस्थ क्षमाशील न हो, तो दिन रात उसको कलह करना पड़े और गार्हस्थ्य का सब सुख मिट्टी में मिल जाय। मुकद्दमेबाज़ी में समस्त धन लुट जाय और फिर कोई कौड़ी को भी न पूछे कि आपका क्या हाल है। इसलिये नीति-विशारदों ने कहा है कि जिसके हाथ में क्षमा रूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या कर सकता है।

महाभारत में लिखा है कि वनवास के समय अपनी शोचनीय दशा देखकर वीरनारी द्रौपदी से चुप न रहा गया। कौरवों से युद्ध करने के लिये महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार के तीव्र वचन सुनाये जिसको सुन कर एक बार तो कायर पुरुष भी अपनी जान पर खेल जाय और आगा-पीछा बिना सोचे युद्ध कर बैठे। किन्तु धर्म-पुत्र युधिष्ठिर उन असह्य वचनों को, जो निर्वासिता, तिरस्कृता और सुदुःखिता विदुषी द्रुपदनन्दिनी के मुँह से निकले थे, सुन कर कुछ भी क्रोधित न हुए और अनेक प्रकार से क्षमा ही की महिमा दिखाई। जिसका यह तात्पर्य है कि क्षमा से बढ़कर कोई धर्म नहीं। क्षमा ही से यह जगत् ठहरा हुआ है। विवेकी पुरुष को निरन्तर क्षमा ही करना चाहिए और क्षमावान् का लोक और परलोक सब सुधरता है। यथा –

"क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमायेदं धृतं जगत्॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्व्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम्॥

यह सिद्धान्त है कि जितना दुर्बल होता है, उतना ही वह क्रोधी है और जितना बली होता है, उतना ही वह क्षमावान् है। गरुड़ पुराण में क्षमाशील पुरुषों में एक दोष भी दिखाया है। वह यह कि—

"एक: क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमतायुक्तमशक्तं मन्यते जन:॥"

अर्थात् क्षमाशील पुरुषों में एक ही दोष पाया जाता है, दूसरा नहीं। इस क्षमायुक्त को लोग असमर्थ समझते हैं।

सच है, दुर्ज्जन लोग क्षमावान् को अवश्य ही अशक्त मानते हैं। वे समझते हैं कि उसने हमारे दोष क्षमा नहीं किये, वरञ्च उसकी ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी जो हमें दंड देता। इसलिए वे उसे बार-बार सताते हैं, खिजलाते हैं और नाना प्रकार के दुःख पहुँचाते हैं। कितने नराधमों को यह कहते देखा है कि ईश्वर कोई चीज़ नहीं है। यदि वह होता तो क्या हमें पापों का दंड न देता? पर वे इस बात को नहीं समझते कि यह सब उस कृपालु की अपार दया का फल है जो दंड देने में विलम्ब कर रहा है।

कभी कभी क्षमा से ऐसे भी कार्य हो जाया करते हैं जिनको प्रकारान्तर से होना बहुत ही कठिन है। एक बार आगरे में महात्मा हरिदास जमुना से स्नान कर, अपने स्थान पर आते थे। मार्ग में शाही क़िला था जिस पर नव्वाब खानखाना बैठे हुए उनकी ओर घृणा से देखते थे। नव्वाब साहब को यह बात बहुत बुरी लगी कि महात्मा अपने शरीर को मुसलमानों के स्पर्श से बचाते चले आ रहे हैं। इसीलिए उन्होंने उनके ऊपर घृणा से थूक दिया और वे इनकी ओर देखकर फिर यमुना की ओर चले गये। थोड़ी देर के बाद नव्वाब ने देखा कि फिर भी वे स्नान कर उसी तरह आते हैं। क़िला के नीचे आने की देर थी कि फिर उन्होंने उन पर थूका और वे देखकर उसी तरह चुपचाप लौट गये।

इस प्रकार वे स्नान कर आते रहे और वे उन पर थूकते रहे। जब ग्यारहवीं बार वे आये तो नव्वाब का भाव बदल गया। उन्होंने सोचा कि चिउँटी को भी पैर के नीचे दबाने से वह काटती है परन्तु मनुष्य होकर भी उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं कहा। क्या ये मुझे ज़ुबान से भी कुछ नहीं कह सकते थे; पर नहीं ये सच्चे ख़ुदा के दोस्त हैं। इनसे अपने गुनाह माफ करवाने चाहिये। यह सोच उनके चरणों में जा गिरे और उनसे अपने अपराधों की क्षमा चाही। स्वामी हरिदास प्रसन्न हो गये और उन्होंने उपदेश दे उनको हरिभक्त बनाया। और ऐसा बनाया कि जिसकी भक्ति देख कर हिन्दुओं को भी कहना पड़ा कि "हरिभक्त खानखाना धन्य है।" यदि स्वामी जी उस दिन क्षमा न करते तो आज हम लोगों को खानखाना के भगवद्भक्तिमय सरस श्लोक देखने को न मिलते। इसलिए किसी ने बहुत अच्छा कहा है, कि—

"मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात् तीव्रतरं मृदुः॥"

अर्थात् मृदुता से मनुष्य कठोर को काट सकता है और कोमल को भी काट सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मृदु से साध्य न हो। इसलिए सबसे तीव्र मृदु को समझना चाहिए। मसल है कि ठंढा गरम को काट सकता है, गरम ठंढे को नहीं।

५—शिक्षा

[श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

[१]

इँगलैंड में स्पेन्सर साहब एक नामी तत्ववेत्ता हो गये हैं। उनकी शिकायत है कि लोग उपयोगिता का कम ख़याल करते हैं, दिखाव का अधिक। शिक्षा के विषय में भी यही बात पाई जाती है। जैसी शिक्षा होती आई है वैसी ही लोग अपने बाल-बच्चों को

देते हैं। यह सिर्फ इसलिए कि और लोग उनकी सन्तति की प्रशंसा करें और उन्हें शिक्षित समझें। पर इस बात का लोग खयाल नहीं करते कि जो शिक्षा मिल रही है उससे काम कितना निकलता है। स्पेन्सर ने वैज्ञानिक शिक्षा को प्रधानता दी है और दिखलाया है कि बिना इसके आदमी कोई काम—कोई उद्योग-धन्धा—अच्छी तरह नहीं कर सकता। इसलिए विज्ञान-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

महत्व के अनुसार मनुष्य के कर्तव्य पाँच हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

(१) अपनी प्राणरक्षा के कर्तव्य।

(२) अपने जीवन-निर्वाह के कर्तव्य।

(३) सन्तति को पालने-पोषने और शिक्षा देने के कर्तव्य।

(४) सामाजिक और राजनैतिक कर्तव्य।

(५) मनोरञ्जन—अर्थात् गाने-बजाने, कविता करने और दिल बहलाने आदि के कर्तव्य।

ये जितने कर्तव्य हैं सब के लिए जुदा-जुदा तरह की शिक्षा दरकार होती है। और हर तरह की शिक्षा में प्रायः विज्ञान ही (Science) प्रधान है। इस बात को स्पेन्सर ने बड़ी ही योग्यता से सिद्ध किया है। पहले हम तीसरे प्रकार के कर्तव्यों की शिक्षा के विषय में उसका मत लिखते हैं। यह कर्तव्य बाल-बच्चों को पालने, पोसने और शिक्षा देने से सम्बन्ध रखता है।

यह कर्तव्य बहुत बड़े महत्व का है; पर इसके महत्व का कोई खयाल नहीं करता – इसको पूरा करने के लिए कोई तैयार नहीं रहता।

बचों का जीवन या मरण, सुख या सर्वनाश, हित या अहित, सारी बातें, उनको लड़कपन में दी गई शिक्षा ही पर अवलम्बित रहती हैं। तिस पर भी जो लोग थोड़े ही दिनों में बच्चों के माँ-

बाप बनने वाले हैं, अर्थात् जो विवाह हो जाने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले हैं, उनको बाल-बच्चों को पालने और उन्हें शिक्षा देने के विषय में भूल कर भी कभी एक शब्द तक नहीं सिखलाया जाता। क्या यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात नहीं? क्या यह बहुत ही अद्भुत और चमत्कारिणी घटना नहीं? क्या यह बहुत ही विलक्षण पागलपन नहीं कि भावी सन्तति का भाग्य. अविचार से भरी हुई पुरानी चाल, प्रवृत्ति, अटकल, मूर्ख दाइयों की सलाह और घर की अन्ध-परम्परा-भक्त बड़ी बूढ़ियों की समझ के भरोसे छोड़ दिया जाय? हिसाब-किताब और बही-खाते का कुछ भी ज्ञान न रखने वाला कोई व्यापारी यदि कारोबार शुरू कर दे तो हम उसकी मूर्खता का ढोल पीटने लगेंगे और बहुत जल्द उसके बरबाद होने की ख़बर सुनने की आशा करेंगे। अथवा शरीरशास्त्र का अभ्यास किये बिना ही यदि कोई चीर फाड़ अर्थात् जर्राही का काम आरम्भ कर दे तो हमें उसकी ढिठाई पर अचम्भा होगा और उसके रोगियों पर दया आवेगी। परन्तु जो मानसिक, नैतिक और शारीरिक सिद्धान्त इस विषय के आदर्श हैं उनका ज़रा भी विचार न करके—उन पर कुछ भी ध्यान न देकर—बाल-बच्चों के पालन-पोषण और विद्याभ्यास आदि कठिन काम यदि माँ-बाप शुरू कर दें तो हमें न तो उनकी करतूत पर आश्चर्य ही होता है और न उनके अन्याय की पात्र उनकी सन्तति पर दया ही आती है।

आरोग्य-रक्षा के नियम माँ-बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफतें आती हैं, उनका ठौर ठिकाना नहीं। हज़ारों बच्चे तो माँ-बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखों अशक्त, निर्बल और जन्मरोगी होते हैं, और करोड़ों ऐसे नीरोग और सबल नहीं

को मालूम हो जायगा कि माँ बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुःख सहना पड़ता है, कितनी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। लड़कपन में लड़के जिस तरह रक्खे जाते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें दी जाती है उसके अनुसार जन्म भर उनको सुख दुःख मिलता है। यदि अच्छी शिक्षा मिली, यदि वे अच्छी तरह रक्खे गये, तो उन्हें जन्म भर सुख मिलता है, नहीं तो दुःख। पर जरा इस बात का तो ख़याल कीजिए कि आजकल लड़के किस तरह पाले-पोसे जाते हैं। इस समय हम लोग जिस तरह लड़कों को रखते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें देते हैं उसमें यदि एक गुण होता है तो बीस दोष होते हैं। इन बातों का असर हर घड़ी लड़कों पर पड़ता है। लड़कपन में लड़कों के पालन-पोषण और शिक्षण में अविचार से काम लेने और महत्व की बातों को दैव या भाग्य के भरोसे छोड़ देने से जो हानि होती है उसका अन्दाजा नहीं किया जा सकता। कोई इस बात का विचार नहीं करता कि पायदार, मजबूत और ख़ूब गरम कपड़े पहने बिना लड़कों को सरदी में बाहर खेलने-कूदने देना और सरदी के कारण उनके हाथ पैरों का फटना अच्छा है या नहीं। पर इसका विचार करना बहुत जरूरी बात है। क्योंकि इन बातों से लड़कों के भावी सुख-दुःख का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इस तरह की बेपरवाही के कारण या तो लड़के बीमार रहा करते हैं, या उनकी बाढ़ रुक जाती है, या काम करने की शक्ति घट जाती है, या तरुण होने पर जितना बल उनके बदन में होना चाहिए उतना नहीं होता। लड़कों को जो एक ही तरह का और कम बलवर्द्धक खाना खिलाया जाता है वह क्या उनको सजा देने के इरादे से खिलाया जाता है? इस तरह का खाना खाने से, बड़े होने पर, उनका शारीरिक बल जरूर कुछ कम हो जाता है और पुरुषत्व के काम करने की योग्यता में भी थोड़ी बहुत न्यूनता जरूर आ जाती है। क्या लड़कों के लिए कोलाहल-

कारी और दौड़ धूप के खेल मना हैं ? या बदन पर काफी कपड़े न होने के कारण जाड़े की ऋतु में इसलिए वे बाहर नहीं निकलने पाते कि कहीं उनको सरदी न लग जाय ? कुछ भी हो, पर इस तरह घर के भीतर बन्द रहने से उनके आरोग्य में जरूर बाधा आती है और उनकी शारीरिक शक्ति भी जरूर थोड़ी बहुत क्षीण हो जाती है। तरुण होने पर भी लड़कों और लड़कियों को रोगी और अशक्त देखकर माँ-बाप बहुधा अपना दुर्भाग्य या एक प्रकार का ईश्वरीय कोप समझते हैं। अथवा आज कल लोगों की जैसी बेढंगी समझ है उसके अनुसार वे यह कल्पना कर लेते हैं कि ये बातें अपने हाथ में नहीं --ये आपदायें बिना कारण ही पैदा हो गई हैं; या यदि किसी कारण हुई हैं तो उसका पैदा करने वाला ईश्वर है; उसे दूर करना आदमी के वस की बात नहीं। परन्तु इस बात को कौन समझदार आदमी न कबूल करेगा कि इस तरह की तर्कना पागलपन है ? यह निस्संदेह सच है कि कभी-कभी माँ-बाप के दुर्गुणों और रोगों का फल सन्तान को भी भोगना पड़ता है, अर्थात् माँ-बाप में जो दोष होते हैं वे कभी-कभी सन्तान में भी आ जाते हैं, परन्तु बहुधा पालन-पोषण में माँ बाप की नादानी ही के कारण लड़कों को बीमारियाँ हो जाया करती हैं और फिर जन्म भर उनकी तबीयत अच्छी नहीं रहती। माँ-बाप ने अपने बाल-बच्चों की जान को हर घड़ी अपने क़ाबू में रखने का ठेका सा ले रक्खा है—उनको खिलाने-पिलाने और शिक्षा देने का भार उन्होंने हर घड़ी अपने ही ऊपर रक्खा है। पर जिन्दगी से सम्बन्ध रखने वाली जिन बातों के विषय में वे अविचार से भरी हुई आज्ञायें देकर और रुकावटें पैदा करके, बराबर उलट फेर किया करते हैं, उन बातो का ज्ञान प्राप्त करने में उन्होंने बहुत बड़ी निर्दयता की बेपरवाही की है। उन्हें सीखने की ज़रा भी कोशिश उन्होंने नहीं की। आरोग्य-रक्षा और शरीरशास्त्र के बहुत ही सीधे-सादे नियमों का भी ज्ञान प्राप्त न करने के कारण वे अपने बच्चों

के आरोग्य को—उनके शारीरिक बल को—बराबर क्षीण करते चले जा रहे हैं—हर साल उसे अधिकाधिक कम करते चले जा रहे हैं। इस तरह की निर्दयता और नादानी के कारण वे अपनी सन्तति ही को नहीं, किन्तु सन्तति की भावी सन्तति को भी बीमारी के घर और अकाल मृत्यु के मुँह में फेंक रहे हैं।

[२]

जब हम आरोग्य-शिक्षा से आगे बढ़कर नैतिक शिक्षा की तरफ आते हैं तब वहाँ भी हम इसी तरह की नादानी और अज्ञानता देखते हैं। वहाँ भी हमें माँ-बाप की बेपरवाही और मूर्खता के उदाहरण मिलते हैं। लड़कपन में बच्चों के पालन-पोषण का भार सिर्फ माँ पर रहता है। इससे उनको सबसे पहली शिक्षा माँ ही से मिलनी चाहिए। अब जरा कम उम्र की माँ और उसके बच्चों को खिलाने-पिलाने वाली दाई की योग्यता का विचार कीजिए। माँ के जारी किये हुए कानूनों पर तो ज़रा ध्यान दीजिए। अभी थोड़े ही साल हुए कि वह मदरसे में पढ़ती थी। वहाँ उसके दिमाग़ में हज़ारों शब्द, नाम और तारीखें कूट-कूट कर भर दी गई थीं। दिन रात उसने उन्हें रट-रट कर याद किया था। उसे किसी बात को सोचने या समझने का शायद कभी मौक़ा ही नहीं दिया गया। अर्थात् उसकी विचार शक्ति को ज़रा भी प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई। लड़कों के कोमल मन को किस तरह की शिक्षा देनी चाहिए, इस विषय का एक शब्द भी वहाँ उसको नहीं सिखाया गया। इस दशा में खुद कोई नई शिक्षा-प्रणाली सोच कर निकालने की तो बात ही नहीं, उसे इस तरह की शिक्षा की गन्ध भी मदरसे में नहीं मिली। फिर वह बेचारी बाल-शिक्षा की नई तरकीब निकाले कैसे? यह तो मदरसे की शिक्षा का हाल हुआ। मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच के वक्त में भी सन्तति के पालन-पोषण की शिक्षा उसे नहीं मिली। वह गाने-बजाने, बेल-बूटे काढ़ने, किस्से-कहानियों की किताबे पढ़ने और आज इसके यहाँ

कल उसके यहाँ जलसों और दावतों में शरीक होने में गया। इस समय तक उसने इस बात का कुछ भी विचार नहीं किया कि लड़के-बाले होने पर कितनी बड़ी जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ेगी। इस तरह की ज़िम्मेदारी उठाने में. जो मानसिक शिक्षा स्त्री को थोड़ी बहुत मदद पहुँचाती है उस शिक्षा का शायद ही कुछ अंश उसे मिला हो। अब देखिए, उसी पर एक ऐसे प्राणी के पालने-पोसने और शिक्षित करने का भार आ पड़ा जिसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ प्रतिदिन बढ़ती रहती हैं। ज़रा इस नादानी पर तो ध्यान दीजिए कि जिस काम का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं, जिसे वह बिलकुल ही नहीं जानती, उसी को अब उसे करना है। और, काम भी ऐसा जो उस विषय का पूरा-पूरा ज्ञान होने पर भी, अच्छी तरह नहीं हो सकता। पर यही महा कठिन काम करने का बीड़ा, माँ के नये पद को पाने वाली इस युवती को उठाना पड़ा। ऐसी माँ को इतना कठिन काम करने में कहाँ तक कामयाबी हो सकती है, इसका फैसला पाठक ही करें। वह इस बात को बिलकुल नही जानती कि मनोवृत्तियाँ किस तरह की होती हैं? उनकी कैफियत क्या है? वे किस तरह बढ़ती हैं और किस तरह एक दूसरी के बाद पैदा होती हैं। उनका काम क्या है? उनका उपयोग कहाँ आरम्भ होता है और कहाँ समाप्त? वह यह समझती है कि कोई कोई मनोवृत्तियाँ सर्वथा बुरी हैं और कोई-कोई सर्वथा भली। पर यह समझ उन वृत्तियों में से एक के विषय में भी ठीक नहीं। यह खयाल बिलकुल ही गलत है कि कोई कोई वृत्ति सर्वथा बुरी और कोई कोई सर्वथा अच्छी होती है। फिर एक और बात भी ध्यान देने लायक है। जिस शरीर को पालने-पोसने की जिम्मे-दारीं उस पर है उस शरीर की बनावट से वह जैसे अनभिज्ञ होती है वैसे ही जुदा जुदा दवाओं और चिकित्साओं का जो असर उस शरीर पर पड़ता है उससे भी वह अनभिज्ञ होती है, उसका भी ज्ञान उसे नहीं होता। इन बातों को न जानने से बच्चों को हर घड़ी जो

कष्ट भोगने पड़ते हैं—उन पर हर घड़ी जो आफतें आती हैं—वे बहुत ही भयङ्कर हैं। इस अज्ञान के कारण जो परिणाम होते हैं उनको हम प्रतिदिन अपनी आँखों से देखते हैं। वे छिपे नहीं। उनसे अधिक हानिकारक परिणाम और क्या हो सकते हैं? माँ को न तो यही ज्ञान होता है कि कौन सी मानसिक वृत्तियाँ भली हैं और कौन सी बुरी। और न उन वृत्तियों के कारण और परिणाम ही का ज्ञान होता है। अतएव मनोवृत्तियों को रोकने या उनके काम में विघ्न डालने से जो हानि बहुधा होती है वह हानि उससे कहीं बढ़कर है जो भले-बुरे की परवा न करके उन्हें यथेच्छ अपना काम करने देने से हो सकती है। अर्थात् यह प्रवृत्ति भली है या बुरी इसका विचार न करके बच्चे को अपनी इच्छा के अनुसार रहने देने से उतनी हानि नहीं होती, जितनी कि बहुधा वेसमझे बूझे उसकी किसी प्रवृत्ति को—उसके मन के किसी झुकाव को—बुरा समझ कर रोकने से होती है। बच्चे को जो काम करने की आदत होती है और जिनसे उसे लाभ के सिवा हानि भी नहीं हो सकती, उनको करने से वह उसे रोकती है। वह समझती है कि ऐसे कामों से बच्चे को हानि पहुँचेगी। वह नहीं जानती कि उसका रोकना हानिकर है। इस तरह की रुकावट से बच्चा ना-खुश रहता है; वह चिड़चिड़ा हो जाता है; और लाभ के बदले उसे जरूर हानि पहुँचती है। बच्चे के साथ इस तरह पेश आने से माँ-बेटे में वैमनस्य हो जाता है और परस्पर जैसा स्नेह रहना चाहिए नहीं रहता। जिन कामो को माँ अच्छा समझती है उन्हें वह धमकी या लालच देकर बच्चे से कराती है। अथवा वह बच्चे को यह सुझाती है कि ये काम करने से सब लोग तुम पर खुश होंगे और तुम्हारी तारीफ करेंगे। इस तरह वह उससे वे काम कराती है। बच्चे के मन की वह बिलकुल परवा नहीं करती। ऊपरी मन से यदि बच्चे ने उसका कहना मान लिया तो इतने ही से वह कृतार्थ हो जाती है। वह समझती है कि बस मेरा कर्तव्य

हो चुका। इस तरह के बर्ताव से बच्चे को कोई अच्छी शिक्षा तो मिलती नहीं—वह कोई अच्छी बातें तो सीखता नहीं—हाँ दम्भ, डर और ख़ुदग़रज़ी की शिक्षा उसे मिल जाती है। एक तरफ तो वह बच्चे को सच बोलने की शिक्षा देती है, दूसरी तरफ वह ख़ुद अपने ही बर्ताव से झूठ के नमूने उसके सामने रखती है। वह बच्चे से कहती है कि यदि तुम सच न बोलोगे तो मैं तुमको यह सज़ा दूँगी, वह सज़ा दूँगी। पर जब बच्चा झूठ बोलता है तब अपने कहने के मुताबिक़ वह सज़ा नहीं देती। यह झूठ का नमूना नहीं है तो क्या है? यही नमूना लड़कों को झूठ बोलना सिखला देता है। एक तरफ तो वह यह सिखाती है कि आदमी को आत्म-संयमन करना चाहिए—अपने आपको काबू में रखना चाहिए—दूसरी तरफ ज़रा-ज़रा-सी बात के लिए वह अपने छोटे-छोटे बच्चों पर बिगड़ उठती है और क्रोध करती है। क्या इसी का नाम आत्म-संयमन है? जिस तरह बड़े होने पर संसार के सारे व्यवसायों में भले-बुरे कामों का भला-बुरा परिणाम होने देना शिक्षा का सब से अच्छा तरीका है—स्वाभाविक रीति पर ऐसे परिणामों से फिर चाहे जितना सुख या दुःख हो—उसी तरह लड़कपन में बच्चों को सुमार्गगामी बनाने के लिए उनको जो शिक्षा दी जाय उसमें भी उसी तरीके से काम लेना चाहिए और बच्चों के भले-बुरे कामों का भला या बुरा परिणाम होने देना चाहिए। परन्तु बेचारी माँ को इस तरह की शिक्षा के तरीके का स्वप्न में भी ख़याल नहीं होता। जो उसके मन में आता है वही उसका कानून है। उसी के अनुसार वह बच्चों का शासन करती है-उसी के अनुसार वह उन पर हुकूमत करती है। इससे बहुत बड़ी हानि होती है। परन्तु बच्चों की समझ जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उनके मन की वृत्ति मनुष्य-जाति के स्वभाव-सिद्ध नैतिक भावों की तरफ अधिक-अधिक झुकती जाती है। इससे छोटी-मोटी विपरीत बातों का असर बच्चों पर कम पड़ता है और जितना बिगड़ते हुए वे मालूम होते हैं

उतना नहीं बिगड़ते। यदि बच्चों में यह वृत्ति स्वभाव-सिद्ध न होती तो माँ के ऐसे अशास्त्रीय और अनुचित शिक्षण के कारण वे बरबाद होने से न बचते। माँ का ऐसा अन्याय-पूर्ण कानून उनको संसार में किसी काम का न रखता।

[३]

अच्छा, अब बच्चो की बुद्धि-विषयक शिक्षा का विचार कीजिए। क्या इस शिक्षा के सम्बन्ध में भी गड़बड़ी नहीं है ? क्या इसका भी प्रबन्ध वैसा ही खराब नहीं है ? मान लीजिए कि बुद्धि-विषयक सब बाते यथानियम होती हैं। मान लीजिए कि बच्चो की बुद्धि का विकास भी नियमानुसार ही होता है। अतएव मानना पड़ेगा कि बिना इन नियमो का ज्ञान हुए बच्चों की शिक्षा अच्छी तरह नहीं हो सकती। जिस तरीके से बच्चों को ख़याल करना और ख़यालात को इकट्ठा करके उन्हें याद रखना सिखलाया जाता है उस तरीके का पूरा-पूरा ज्ञान हुए बिना ये काम अच्छी तरह नहीं हो सकते। बिना इस ज्ञान के शिक्षा को सम्भव समझना निरा पागलपन है। पर, आजकल दो ही चार शिक्षक ऐसे होंगे जो मनोविज्ञान का कुछ भी ज्ञान रखते होंगे। और माँ-बाप की तो बात ही न पूछिए। उनमे तो शायद ही किसी की पहचान इस शास्त्र से होगी। शिक्षा की जो प्रणाली इस समय प्रचलित है वह बहुत ही दूषित और बहुत ही शोचनीय है; और होनी ही चाहिए; क्योंकि सब सामान ही वैसा है। यही नहीं कि जो शिक्षा दी जाती है वही दूषित है; नहीं, जिस तरीके से वह दी जाती है वह तरीका भी दूषित है। जिन बातो का शिक्षा दी जानी चाहिए उनकी तो दी नहीं जाती; दी जाती है व्यर्थ, अनुपयोगी और अनुचित बातों की। फिर जो ऊटपटाँग की बातें लड़कों के दिमाग में ज़बरदस्ती भरी जाती है वे ठीक क्रम से भी नहीं भरी जातीं। न शिक्षा ही ठीक है; न क्रम ही ठीक है; न तरीका ही ठीक है। कुछ भी ठीक नहीं। न उचित शिक्षा ही का प्रबन्ध है; न उचित क्रम ही का

प्रबन्ध है; और न उचित तरीक़े ही का प्रबन्ध है। माँ-बाप समझते हैं कि किताबों से जो ज्ञान प्राप्त होता है—जो शिक्षा मिलती है—बस वही विद्या है। विद्या की सीमा वे इतनी ही परिमित समझते हैं। इसी खयाल से वे अपने छोटे-छोटे बच्चों के हाथ में समय से बरसों पहले ही किताबें थमा देते हैं। इससे उनकी बड़ी हानि होती है। शिक्षक लोग यह नहीं समझते कि किताबें शिक्षा प्राप्त करने का गौण साधन हैं। वे प्रधान साधन नहीं। उनसे जो शिक्षा मिलती है वह प्रत्यक्ष शिक्षा नहीं, अप्रत्यक्ष है। जब प्रत्यक्ष साधनों की सहायता से शिक्षा न मिल सकती हो तभी अप्रत्यक्ष साधनीभूत किताबों की सहायता लेनी चाहिए। सीधे-सादे तरीक़े से प्रत्येक शिक्षा मिलना असम्भव होने पर ही किताबों से शिक्षा प्राप्त करना मुनासिब कहा जा सकता है। जिन चीज़ों को आदमी खुद न देख सके उन्हीं को उसे दूसरों की आँखों से देखना चाहिए। इसी तरह जिस शिक्षा को लड़के प्रत्यक्ष रीति से ख़ुद ही न प्राप्त कर सकते हों उसी के लिए उन्हें किताबों की मदद पहुँचाना मुनासिब है। किताबों से कुछ सीखना मानों दूसरों की आँखों से देखना है। पर इस बात को शिक्षक बिलकुल ही भूल जाते हैं, इस पर वे ध्यान ही नहीं देते। इसी से प्रत्यक्ष रीति से जानी जाने लायक़ बातों को भी वे अप्रत्यक्ष रीति से लड़कों को सिखलाते हैं। थोड़ी उम्र में जो ज्ञान लड़कों को आप ही आप होता रहता है वह बड़े महत्व का है—वह अनमोल है। लड़कपन में लड़कों की बुद्धि बहुत शोधक होती है। बुद्धि की यह शोधकता —ज्ञान प्राप्त करने की यह लालसा—उनमें स्वाभाविक होती है। वह आप ही आप पैदा होती है। पर शिक्षक महाशय इस स्वभाव-सिद्ध ज्ञान-लिप्सा पर धूल डालते हैं। लड़कपन में बच्चे बड़े कौतूहल और ध्यान से हर एक बात को देखते हैं और उसके विपय में पूछ-ताँछ करते हैं। उनके कौतूहल का निवारण न करके उसे रोक देना या सुनी-अनसुनी कर जाना बहुत बुरा है। उनकी

ज्ञान-लिप्सा का प्रतिबन्ध करना बहुत हानिकारी है। प्रतिबन्ध न करके उसे और उत्तेजना देना चाहिए। लड़के जिस बात को पूछें उसे बताना चाहिए। वे जिस चीज के विषय में कोई बात जानना चाहें उसका यथा सम्भव पूरा-पूरा और सच्चा हाल उनसे कहना चाहिए। परन्तु शिक्षक ऐसा नहीं करते। वे करते क्या हैं कि जो बातें लड़कों की समझ के बाहर हैं और जिनको सीखना उनको नागवार मालूम होता है उन्हीं को लड़कों की आँखों के सामने लाने और उनके दिमाग़ में भरने का वे यत्न करते हैं। वे वैसी बातें लड़कों को सिखलाने की कोशिश करते हैं जिन्हें सीखने में न तो लड़कों का मन ही लगता है और न वे उन्हें समझ ही सकते हैं। शिक्षकों का मन अन्ध-भक्ति या अन्ध-परम्परा में डूबा रहता है। उसकी प्रेरणा से वे प्रत्यक्ष विद्या का आदर नहीं करते, करते हैं विद्या की तसवीर का, विद्या के प्रतिबिम्ब का। उनके हृदय में नकली ही शिक्षा की भक्ति का वेग अधिक होता है। इससे उनको यह नहीं सूझता कि जब घर, द्वार, खेत, खलिहान, गली, कूचे आदि में देख पड़ने वाली चीज़ों का ज्ञान अच्छी तरह हो जाय तभी उनके आगे की चीज़ों का ज्ञान प्राप्त करने का साधन, किताबें, लड़को के हाथ में देना चाहिए। वे नहीं जानते कि नये-नये तरीकों से घर और पास-पड़ोस से दूर की चीज़ों का ज्ञान प्राप्त करने का वही उपयुक्त समय है। उसके पहले लड़कों के हाथ में किताबे देने की कोई जरूरत नहीं। इस तरीके से शिक्षा देना सिर्फ इसी कारण से मुनासिब नहीं कि अप्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हुए ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हुआ ज्ञान अधिक मूल्य-वान है, किन्तु इस कारण से भी कि जिन चीजों की शिक्षा लड़कों को दी जाने को है उनका अनुभव पहले ही से उनको जितना अधिक होगा उतना ही अधिक किताबे पढ़ते समय उन चीज़ों का बयान उनकी समझ में आवेगा; उतना ही अधिक अच्छी तरह वे उन चीजों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। एक दोष यह भी है कि यह

रूढ़िप्राप्त या परम्परागत शिक्षा—यह रस्मी तालीम—बहुत जल्द शुरू कर दी जाती है और जिन नियमों के अनुसार मन की शक्तियाँ बढ़ती जाती हैं उनकी कुछ भी परवा न करके यह जारी रखी जाती है। मानसिक शक्तियों में तो उन्नति होती जाती है; पर इस शिक्षा-प्रणाली में उन्नति नहीं होती। वह जैसी की तैसी जारी रहती है। मूर्त-विषयों का ज्ञान पहले होना चाहिए, अमूर्त-विषयों का पीछे। जो चीज़ें आँखों के सामने रहती हैं उनसे सम्बन्ध रखने वाली शिक्षा हो चुकने पर, उन चीज़ों की शिक्षा होनी चाहिए जो आँखों के सामने नहीं रहतीं। दृश्य विषयों की शिक्षा के बाद अदृश्य विषयों की शिक्षा देना मुनासिब है। ज्ञान-प्राप्ति में इसी क्रम से काम लेना चाहिए और सीधी-सादी बातों की शिक्षा से शुरू करके कठिन बातों की शिक्षा तक पहुँचना चाहिए। परन्तु इस नियम की ज़रा भी परवा नहीं की जाती और अमूर्त और अत्यन्त कठिन विषयों की शिक्षा, उदाहरण के लिए व्याकरण की, जो बहुत पीछे शुरू होनी चाहिए, बिलकुल बचपन ही में शुरू कर दी जाती है। इसी तरह, लड़कों के बचपन ही में, भूगोल-विद्या जिस क्रम से सिखलाई जाती है वह क्रम भी ठीक नहीं। राजकीय व्यवस्था के अनुसार जुदा-जुदा देशों और खण्डों के जो विभाग होते हैं उनके नाम और उनसे सम्बन्ध रखने वाली शुष्क बातें बचपन ही में पढ़ाई जाती हैं। इस तरह की मुर्दा बातें सीखने में लड़कों का मन नहीं लगता और उनका बहुत सा समय नष्ट जाता है। इन बातों को, कुछ दिन बाद, लड़कों के ज़रा बड़े होने पर, सिखलाना चाहिए। इनका सम्बन्ध समाज से है। अतएव सामाजिक शिक्षा के साथ इनकी शिक्षा होनी उचित है। इस तरह की भूगोल-विद्या तो इतना जल्द शुरू कर दी जाती है; पर प्राकृतिक भूगोल अर्थात् वह विद्या जिसमें पृथ्वी के आकार और रूप आदि का वर्णन रहता है और जिसके सीखने में लड़कों का मन लगता है और जो उनकी समझ में भी आ सकती है, प्रायः नहीं

सिखलाई जाती। उसे सिखलाने की बहुत कम कोशिश होती है। प्रत्येक विषय सिखलाने का क्रम ठीक नही। जितने विषय हैं उनकी शिक्षा में नियमों की प्रायः बिलकुल ही परवा नहीं की जाती। कौन विषय किस कायदे से सिखलाना चाहिए, इस बात पर बहुधा कोई ध्यान नहीं देता। परिभाषा, व्याख्या, नियम और सिद्धान्त पहले ही सिखला दिये जाते हैं। पर जिन चीज़ों के विषय में ये बातें सिखलाई जाती हैं; उनसे लड़कों की, तबतक, प्रत्यक्ष पहचान ही नहीं होती, वे उन्हें देख ही नहीं पाते। चाहिए यह कि ये बातें, सृष्टिक्रम के अनुसार, उदाहरणों के द्वारा, सिखलाई जायँ। संसार में प्रत्येक चीज़ को देखने के बाद जिस क्रम से उसके प्रत्येक अङ्ग का ज्ञान होता है उसी क्रम से शिक्षा भी होनी चाहिए। जिस चीज़ के विषय की शिक्षा दी जाय उस चीज़ के सृष्टि सम्बन्धी क्रम और नियम का ज़रूर खयाल रखना चाहिए और उन्हीं के अनुसार लड़कों को सब बातें बतलाना चाहिए। जिन लड़कों ने कभी महासागर या पहाड़ या डमरूमध्य नहीं देखा उनके पढ़ने की किताबों के शुरू ही में उनकी परिभाषा आदि का देना क्रम और नियम के बिलकुल ही खिलाफ है। फिर, इन सब दोषो से बढ़कर दोष, तोते की तरह, हर बात को रट कर याद कर लेने की आदत है। यह आदत बहुत ही बुरी है। इस आदत ने लड़कों की बुद्धि का सत्यानाश कर डाला है। देखिए इसका नतीजा क्या होता है। बच्चो की बुद्धि सञ्चालन में रोक-टोक करने—उसे यथेच्छ न विचरण करने देने—और उनसे ज़बर्दस्ती पुस्तकें रटवाने से उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ बचपन ही में कुण्ठित होकर आगे बिलकुल ही मन्द हो जाती हैं। उनकी बुद्धि की तीव्रता जाती, रहती है। जिन विषयों के समझने की योग्यता नहीं है उन्हें सिखलाने, और बिना किसी विषय को अच्छी तरह समझाये उसके सम्बन्ध के साधारण नियम या सिद्धान्त बतलाने से बच्चों की बुद्धि बेतरह गड़बड़ में पड़ जाती है। इस तरह के नियम या सिद्धान्त ठीक-

ठीक उनकी समझ ही में नहीं आते। जो जिस बात को जानता ही नहीं वह उसके सिद्धान्त कैसे अच्छी तरह समझ सकेगा? शिक्षा का जो तरीक़ा आजकल जारी है, वह लड़कों को ज़रा भी इस लायक नहीं होने देता कि वे ख़ुद भी कुछ सोच-विचार कर सकें और अपनी निज की खोज से अपने आपके शिक्षक हो सकें। यह तरीका—दूसरों के खयालात को लड़कों के मग्ज में भरना—सिखला कर उन्हें बिलकुल ही आलसी, निकम्मा और परमुखापेक्षी बना देता है। बहुत बचपन में विद्याभ्यास के वज़नी बोझ का दिमाग़ पर दबाव पड़ने से लड़कों की मानसिक शक्तियाँ चूर हो जाती हैं। इन सब कारणों से बहुत ही कम लड़के पूरे विद्वान् और योग्य निकलते हैं। परीक्षायें खतम होते ही किताबें उठाकर ताक पर रख दी जाती हैं; फिर, लड़के भूल कर भी कभी उनकी तरफ नहीं देखते। सीखी हुई बातों में—सम्पादन किये हुए ज्ञान में—व्यवस्था न होने, अर्थात् यथानियम और यथाक्रम शिक्षा न मिलने के कारण, शिक्षित विषयों का बहुत सा हिस्सा जल्द भूल जाता है। जो कुछ रह जाता है वह भी न रहने के बराबर है। उसमें भी कुछ तत्व नहीं रहता। क्योंकि लड़कों को यही नहीं मालूम रहता कि मदरसे में सीखी हुई विद्या से व्यवहार में काम किस तरह लेना चाहिए। यह उन्हें सिखलाया ही नहीं जाता कि काम-काज में विद्या का कैसे उपयोग करना चाहिए। विद्या को किस तरह तरक्की देना चाहिए। किसी चीज़ का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने, किसी विषय की बारीक खोज करने, और अपने आप —स्वाधीनता-पूर्वक—किसी बात का विचार करने की बहुत ही थोड़ी शक्ति लड़कों में होती है। इन सब बातों के सिवा प्राप्त किये गये ज्ञान का बहुत सा हिस्सा व्यवहार में बहुत ही कम काम देता है। उसकी क़ीमत बहुत ही कम होती है। सरांश यह कि लड़कों की शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी और अत्यन्त महत्त्व से भरे

हुए ज्ञान का एक बहुत बड़ा समूह फटकने तक नहीं पाता। वह बिलकुल ही निकाल बाहर किया जाता है।

इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है कि सांसारिक कारोबार से सम्बन्ध रखने वाले इस तीसरे भाग, अर्थात् बाल-बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था करने के लिए जीवन-शास्त्र के ज्ञान की बहुत बड़ी ज़रूरत है, आदमी की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का जानना बहुत आवश्यक है। बच्चों के यथोचित पालन-पोषण और शिक्षण के लिए शरीर-शास्त्र की मोटी-मोटी बातों और मानस-शास्त्र के मूल तत्वों का थोड़ा बहुत ज्ञान होना ही चाहिए। बिना उसके काम नहीं चल सकता। यदि माँ-बाप को इन शास्त्रों की सिर्फ मुख्य-मुख्य बाते और उनको अच्छी तरह समझा सकने के लिए थोड़े से उदाहरण मालूम हो जायँ तो हम इतना ही ज्ञान काफी समझते हैं। इतने ही से बाल-बच्चों के पालने-पोसने और उनको शिक्षा देने का काम निकल सकता है। इन शास्त्रों की इतनी शिक्षा बहुत थोड़े दिनों में दी जा सकती है। यदि दलीलों से उसकी योग्यता न समझाई जा सके तो न सही, विधि-निषेध भाव से ही यह शिक्षा दी जाय। इस बात को करना अच्छा है, इस बात को करना बुरा; इतना ही समझा देना काफी होगा। कुछ भी हो, जो बाते हम नीचे लिखते हैं; उनके विषय में मतभेद नहीं हो सकता। वे बातें ये हैं—

(१) बच्चों के शरीर और मन का विकास कुछ विशेष प्रकार के नियमों के अनुसार होता है।

(२) यदि माँ-बाप इन नियमो की ज़रा भी परवा न करेंगे; तो बच्चे कभी जीते न रहेंगे।

(३) यदि माँ-बाप इन नियमो के पालन में थोड़ा भी ध्यान देंगे, तो बच्चों के शरीर और मन में बहुत से पैदा हुए दोष भी न रहेंगे।

(४) यदि माँ-बाप इन नियमों को पूर्ण रीति से पालेंगे तभी बच्चों के शरीर और मन निर्दोष होंगे।

तो अब आप ही इस बात का फैसला कीजिए कि जिन लोगो के किसी न किसी दिन बाल-बच्चे होने की सम्भावना है क्या उनको उचित नहीं कि वे ज़रा उत्साह-पूर्वक इन नियमों को सीखने की कोशिश करे ?

६—साहित्य का विवेचन

[श्रीश्यामसुन्दरदास]

पहले हमें यह जानना चाहिये कि जब हम किसी देश के जातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते हैं तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है। अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहित्य, यूनानी साहित्य, फ्रांसीसी साहित्य या अँगरेजी साहित्य आदि वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं तब हम किस बात को व्यंजित करना चाहते हैं ? कुछ लोग कहेंगे कि वाक्यांशों का तात्पर्य यही है कि उन भाषाओं में कौन कौन से लेखक हुए, वे कब कब हुए, उन्होंने कौन कौन से ग्रंथ लिखे, उन ग्रंथों के गुण-दोष क्या हैं और उनके साहित्यिक भावों में क्या क्या परिवर्तन हुए। यह ठीक है, पर जातीय साहित्य में इन बातों के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तकों का समूह नहीं कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश में विद्यमान हों। जातीय साहित्य जाति-विशेष के मस्तिष्क की उपज और उनकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमागत अभिव्यञ्जन का फल है। सम्भव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पड़ा हो और उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न हुई हो; परन्तु फिर भी उसकी प्रतिभा में स्वाभाविक जातीय भाव का कुछ न कुछ अंश

वर्तमान रहेगा ही। उसे वह सर्वथा छोड़ नहीं सकता। यदि किसी काल में स्वाभाविक जातीय भाव कुछ ही चुने हुए स्वनाम धन्य वर्तमान लेखकों में पाया जायगा तो हम कह सकेंगे कि उस काल के जातीय साहित्य की वही विशेषता थी। जब हम कहते हैं कि अमुक काल के भारतीय आर्यों, यूनानियों या फ्रांसीसियों का जातीय भाव ऐसा था तब हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि उस काल के सभी भारतीयों, यूनानियों या फ्रांसीसियों के विचार, भाव या मनोवेग एक से थे। उससे हमारा वही तात्पर्य होता है कि व्यक्तिगत विभिन्नता को छोड़ कर जो साधारण भाव किसी काल मे अधिकता से वर्तमान होते हैं वही भाव जातीय प्रकृति के व्यञ्जक या बोधक होते हैं और उन्हीं को जातीय भाव कहते हैं, चाहे उन्हें कोई दोष समझे, चाहे गुण। उन्हीं जातीय भावों का विवेचना-पूर्वक विचार करके हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अमुक काल में अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुभव करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा अध्यात्मिक उन्नति में कहाँ तक योग दिया।

इस प्रकार दूसरी जातियों के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते हैं।

इस दशा में साहित्य इतिहास का सहायक और व्याख्याता हो जाता है। इतिहास हमें यह बताता है कि किसी जाति ने किस प्रकार अपनी सांसारिक सभ्यता को बढ़ाया और वह क्या करने में समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति-विशेष की आन्तरिक वासना, भावना, मनोवृत्तियाँ तथा कल्पनायें क्या थीं, उनमें क्रमशः कैसे परिवर्तन हुआ, सांसारिक जीवन के उतार-चढ़ाव का उन पर कैसा प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारों

और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को नये साँचे में कैसे ढाला। साहित्य से ही हमें जातियों के आध्यात्मिक मानसिक और नैतिक विकास किंवा उन्नति का ठीक ठीक पता मिलता है।

किसी काल के बहुत से कवियो या लेखकों की कृतियों के साधारण अध्ययन से भी हमे इस बात का पता लग जाता है कि कुछ ऐसी साधारण बातें हैं जो उन सब की कृतियों में एक सी पाई जाती हैं, चाहे और अनेक बातों में विभिन्नता ही क्यों न हो।

साहित्य और उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमें कुछ काल की प्रकृति-समता है। जब हम तुलसीदास के ग्रन्थों पर विचार करते हैं तब हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, ब्रजवासीदास आदि के ग्रन्थों पर चला जाता है। तब हम इन सबकी तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते हैं। यह सम्भव है, और कभी कभी देखने में भी आता है कि एक ही वंश या माता-पिता की सन्तति में जहाँ प्रायः कुछ बातें समान होती हैं वहाँ कोई ऐसी भी सन्तति जन्म लेती है जिसमें एक भी गुण सब के जैसा नहीं होता। उसमें सभी बातों में औरों से भिन्नता पाई जाती है। यही बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी ग्रन्थकार में भी हो सकती है। पर साधारणतः उस काल के अधिकांश ग्रन्थकारो में कोई न कोई सामान्य गुण प्रायः होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते हैं।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास ध्यान-पूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है, जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच बीच में

दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का सम्बन्ध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रवल वेग से वहने लगती है और कोई मन्दगति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गॅदले पानी व दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकल कर एक ही नदी अनेक रूपो को धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है, और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भू-भागों से होकर वहती है, वैसे ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी आरम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारम्भ में कवि लोग देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिच कर भगवद्-भक्ति रूपी एक अन्य धारा में जाने लगा। यह भगवद्-भक्ति रूपी धारा रामानन्द और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चल कर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनो धाराओ के रूप को बदल दिया। जहाँ पहिले भाव-व्यञ्जना तथा विचारो के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य-शास्त्र के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर ज़ोर दिया जाने लगा। राम-भक्ति की साहित्य-धारा तो तुलसीदास के समय में ख़ूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्ति-रस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव-जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया। साहित्य-शास्त्र की धारा उसमें अपना पानी न मिला सकी पर कृष्ण-भक्ति की धारा में उसका पानी वड़े वेग से मिलता गया। अतएव उस धारा का रूप ही कुछ का कुछ—यहाँ तक कि किसी अंश में अपेय तक—हो गया। कवियों को कृष्ण-

लीला के आक्षेप-योग्य अंश के अतिरिक्त और कोई विषय ही न मिलने लगा, जिस पर वे अपनी लेखनी चलाते। बात यहाँ तक बिगड़ी कि कवियों को नायिका-भेद और नखशिख आदि के वर्णन करने में ही अपनी सारी शक्ति लगाने में प्रयत्नशील होना पड़ा। इसी बीच मुसलमानों की राज्य-धारा के साथ विलासिता और शृङ्गार-रस-प्रियता का एक और नया प्रवाह उसमें आ मिला। इस प्रकार तीन छोटी छोटी धाराओं के मेल से बनी हुई एक बहुत बड़ी धारा ने कविता-सरिता के रूप में आकाश-पाताल का अन्तर कर दिया। भावों की व्यञ्जना, विचारों का प्रत्यक्षीकरण, अन्तः करण का प्रतिविम्ब कविता में न झलकने लगा। बलवत् लाये गये अलंकारों ने कविता-नदी को कठिनता से अवगाहन-योग्य बना दिया। उन्होंने उसे विशेष जटिल कर दिया। जो पहले भाव-व्यञ्जना आदि के सहायक थे वे अब स्वयं स्वामी बन बैठे। फल यह हुआ कि कविता की स्वाभाविकता जाती रही और वह अपने आदर्श आसन से गिर गई। कवि नायिकाओं का रूप-रङ्ग वर्णन करने में ही अपना कौशल दिखाने लगे। वे आन्तरिक भावों की निवृत्ति न कर सके; वे चरित्र-चित्रण और भाव-प्रदर्शन करना भूल गये। स्थूल दृष्टि के सामने जो कुछ आया उसे शब्दाडम्बर से लपेटने में ही वे अपनी कवित्व शक्ति की चरम सीमा मानने लगे। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रभावों और कारणों के पंजे में पड़ कर साहित्य का रूप बदलता रहा; पर कविता-सरिता की धाराएँ बराबर बहती ही रहीं। जिस काल में जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है वही उस काल की प्रकृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रकृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियो की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते हैं। पर इस बात का हमें ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालों में कठिनता से बाँटा जा सकता है। साहित्य का जो प्रभाव आरम्भ से बहा वह बहता ही गया। भिन्न भिन्न कालों में

उसके रूप में परिवर्तन तो हुआ; पर प्रभाव का मूल एक ही सा बना रहा।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि विशेष की ही कृति पर अवलम्बित न होना चाहिये चाहे वह कवि कितना ही बड़ा. कितना ही प्रतिभाशाली और काव्य-कला के ज्ञान से कितना ही सम्पन्न क्यो न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सांसारिक परिस्थिति के प्रभाव से बचा नहीं रह सकता। उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं हो सकती। वह भी जाति के क्रमिक विकास की शृङ्खला के प्रबन्ध के बाहर नहीं जा सकता। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम उसके ग्रन्थों के. अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। भूषण और हरिश्चन्द्र के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते हैं कि उनके समयों की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता में कितना अन्तर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते हैं। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिविम्ब दिखाने में आदर्श का काम देती हैं। उनके आश्रय से हम अपने अनुसन्धान में अग्रसर हो सकते है और उन्हें आधार मान कर साहित्य के इतिहास को भिन्न भिन्न कालो में विभक्त कर सकते हैं। यह काल-विभाग अपने अपने समय के कवियो के विशेष विशेष गुणों के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भाव-व्यञ्जना के ढङ्ग आदि की गणना गुणविशेषों में है। यह एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रन्थ में उसके कर्त्ता का आन्तरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेपता छिपी रहती है; वैसे ही किसी काल के साहित्य मे परोक्षरूप से उस काल की विशेषता गर्भित रहती है। किसी

काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यञ्जित होती है; जैसे राजनीतिक-सङ्घटन, धार्मिक-विचार, आध्यात्मिक कल्पनायें आदि। इन्हीं रूपों में साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है। उसका विचार-पूर्वक अध्ययन करने से वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रन्थकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। यही उसके कृति-जात रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं। वे तीन बातें हैं—जाति, स्थिति और काल। जाति से हमारा तात्पर्य किसी जन समुदाय के स्वभाव से है; स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जन-समुदाय पर अपना प्रभाव डालती है; और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की विशेषता से है। स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनों ही बातें जातीय साहित्य के विकास और ग्रन्थकारों के विशेपत्व के उत्पादन में साधारणतः सहायक हो सकती हैं और होती भी हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ग्रन्थकार इन्हीं तीन शक्तियो के अधीन या इनसे प्रेरित होकर ग्रन्थ-रचना करते हैं। क्योंकि यदि हम वह मान लेंगे तो किसी कवि या ग्रन्थकार को व्यक्तिगत सच्चाई अथवा विशेषता का सर्वथा लोप हो जायगा और जहाँ उसका लोप हुआ; तहाँ वास्तविक काव्य का भी लोप हो गया समझिए। साधारण लेखकों की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में कुछ विशेष प्रकार के गुण पाये जाते हैं।

अतएव यदि पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्त सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा तो महाकवियों और प्रख्यात लेखकों की विशिष्टता ही नष्ट हो जायगी। यह अवश्य सच है कि साधारण श्रेणी के ग्रन्थकार या कवि अपने समय की प्रकृति या स्थिति के द्योतक होते हैं, पर सच्चे प्रतिभावान् लेखक या कवि के लिए यह बात आवश्यक नहीं है। सम्भव है कि उसमें वह प्रकृति या स्थिति भी लक्षित

होती हो, पर उसकी विशेषता तो इसी में है कि वह किसी अभिनव प्रकृति, स्थिति या भाव का निर्माता हो, उस पर अपना प्रभाव डाल कर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करने में समर्थ और अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति से उसे नया रङ्ग-रूप देने, उसे नये साँचे में ढालने में सफल हो। यही उसकी विशेषता, यही उसका गौरव और यही उसकी प्रतिभा का साफल्य है।

ऊपर कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार ग्रन्थकार पर काल. स्थिति और जाति की प्रकृति का प्रभाव तो स्वीकृत किया जाता है, पर उस प्रकृति पर ग्रन्थकार के प्रभाव की उपेक्षा की जाती है। इस सिद्धान्त में दोष आ जाता है। सारांश यह कि प्रतिभाशाली ग्रन्थकार या कवि अपने काल, जाति और स्थिति की 'प्रकृति-द्वारा निर्मित ही नहीं होता, वह उनका निर्माण भी करता है। वह केवल उनसे प्रभावान्वित होनेवाला ही नहीं, उन पर प्रभाव डालनेवाला भी है। ग्रन्थकार या कवि की विशेष सत्ता की उपेक्षा न की जानी चाहिए, किन्तु उसे ध्यान में रख कर साहित्य के विकास का रूप या इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जिस प्रकार किसी ग्रन्थकर्ता की कृतियों के अध्ययन में तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन मे भी हमें उन्हीं प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता है।

विना इन प्रणालियों का अवलम्बन किये काम ही नहीं चल सकता, तथ्यांश जाना ही नहीं जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते हैं तब हम उन दोनों में प्रायः कुछ बातें तो समान और कुछ विभिन्न पाते हैं। आपस में उनका मिलान करना और उस मिलान का ठीक ठीक फल समझना हमारा कर्तव्य है। समय के प्रभाव से विचारों, भावों और आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है; साथ ही उन्हें प्रदर्शित या व्यञ्जित करने के ढङ्ग में भी परिवर्तन हो जाता

है। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है कि हमारे पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों और हममें बड़ा अन्तर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यही काम देता है। उसी से इस परिवर्तन का अन्तर और उस अन्तर का कारण समझ में आता है। वही हमें यह जानने को समर्थ करता है कि उन परिवर्तनों के आधार-भूत कौन से कारण या अवस्थायें हैं और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार-शृङ्खला की कड़ियाँ हैं, जिन पर निरन्तर काम में न आने से ज़ंग सा लग गया है और जो जीर्ण सी प्रतीत होती हैं।

जब दो जातियों में परस्पर सम्बन्ध हो जाता है—चाहे वह सम्बन्ध मित्रता का हो चाहे अधीनता का हो, चाहे व्यवहार या व्यवसाय का हो—तब उनमें परस्पर भावों, विचारों आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है उसका प्रभाव शीघ्रता से पड़ने लगता है और जो कम शक्तिशालिनी या निस्सत्व होती है अथवा जो चिरकाल से पराधीन होती है अथवा जिसकी सभ्यता विकसित होकर दब जाती है वह शीघ्रता से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियों में मानसिक दासत्व क्रमशः बढ़ कर इतना व्यापक हो जाता है कि शासित लोग शासकों की नकल करने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता समझते हैं। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियों की सभ्यता का मर्म समझने में समर्थ नहीं होतीं। उन पर तो शारीरिक शक्ति का ही प्रभाव अधिक पड़ता है। समशक्तिशालिनी जातियों में यह विनिमय परस्पर हुआ ही करता है अथवा यह कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय वा उत्कृष्ट होती है उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातों को ध्यान में रख कर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष के पश्चिमी अञ्चल में पहले-पहल यूनानियों का आगमन हुआ और उनका आवागमन बहुत समय तक होता रहा। अतएव उनकी

सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव वहाँ की ललित कलाओं पर बहुत अधिक पड़ा। जहाँ यूनानियों का प्रभाव अधिक व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित कला के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उस परिवर्तन के अवशिष्ट चिन्ह अब तक, विशेष करके मूर्तियों में, दिखाई पड़ते हैं। गान्धार-प्रदेश में मिली हुई पुरानी मूर्तियाँ यूनानी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती हैं। उनकी काट-छाँट तथा आकृति में जो सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है वह दक्षिण या मध्यभारत में निर्मित मूर्तियों में नहीं दिखाई पड़ती। मुसलमानो के राजत्व काल में भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सैकड़ों वर्षो तक बराबर पड़ता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक स्थायी और व्यापक हुआ। और वस्तुओं या विषयों पर पड़े हुए इस प्रभाव की विशेष विवेचना हम नहीं करते, हम केवल अपनी काव्य-कला का ही निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उसमें शृङ्गार-रस का जो इतना आधिक्य है बहुत कुछ प्रभाव का फल है। अंग्रेजों के आगमन, सम्पर्क और सत्ता का प्रभाव तो उससे भी बढ़ कर पड़ा। हमारे गद्य-साहित्य का विकास तो उन्हीं के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारों, मनोभावों, आदर्शों और संस्थाओं पर भी उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छापा लगा दी। उन्होंने तो यहाँ तक हमारी सभ्यता पर छापा मारा कि जिधर देखिए उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बात यह हुई कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही सुषुप्तावस्था में पड़ी थी। इस कारण यह प्रभाव अधिक शीघ्रता से दूर दूर तक व्यापक हो गया। जब जागृति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठ-पोषक उसे स्थायी बनाये रखने के लिए उद्योगशील होने लगे। साहित्य का अध्ययन करनेवाले, उसका मर्म समझने वाले तथा उसके विकास का सच्चा

स्वरूप पहचानने वाले के लिए यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पड़कर यहाँ के लोगों के आदर्शों, विचारों, मनोभावो और लेखनशैली में उसने परिवर्तन कर दिया। उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य या साहित्य में कहाँ तक चारुता या विरूपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञता प्राप्त करें जिनसे हमारा सम्बन्ध हुआ है। बिना ऐसा किये हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है लेखन-शैली विचारों के प्रकाशन का बाहरी रूप है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह भाषा के प्रयोग का व्यक्तिगत विशेष ढङ्ग है। समय पाकर जैसे विचारों में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उनके व्यक्त करने की शैली या ढङ्ग में भी परिवर्तन होता है। साहित्य की अन्तरात्मा पर समय, स्थिति, सम्पर्क आदि का प्रभाव पड़ने पर उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है। किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रन्थकार या कवि उस काल की विशेषता के कारण अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण का ढङ्ग भी उस प्रभाव की पहुँच की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। उसे भी अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अन्तरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो उस काल की राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता; वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए हम उदाहरणवत् लल्लूलाल और हरिश्चन्द्र के गद्य को उपस्थित करते

हैं। इन दोनों के गद्य को ध्यान-पूर्वक पढ़ कर विवेकशील पाठक स्पष्ट देख सकते हैं कि लेखन शैली मे कितना अन्तर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने ब्रजभाषा के गद्य और ब्रज मण्डल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चन्द्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०, ८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है। पर यहाँ हमारा उद्देश उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे इन दोनों के गद्य में इतना अन्तर हो गया है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनों की गद्य-शैली ने किस तरह भिन्न भिन्न रूप धारण किये। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर-करने में लगी हुई थी। पर हरिश्चन्द्र के समय में उस रूप में कुछ कुछ स्थिरता आ गई थी, वह परिमार्जित हो चली थी, उसमें प्रौढ़ता, और शक्ति-सम्पन्नता के चिह्न-दिखाई देने लगे थे, वह भाव-व्यञ्जना में अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और प्रभावान्वित होकर हरिश्चन्द्र ने गद्य-लेखन की उस शैली की अवतारणा की है जिसे हम उनकी पुस्तकों में पाते हैं। यह विवेचन इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शैली का आनुपूर्व्य और तुलनात्मक अध्ययन भी साहित्य की स्थिति की विवेचना में सहायक हो सकता है।

७-बुंदेलखंड पर्य्यटन

[श्रीकृष्णबलदेव वर्मा]

निर्मल वेत्रवती पर्वतों को विदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जल कण उड़-उड़ कर मुक्तहार की छवि

दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनाते हैं। नदी के थाह में नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जल धारा की छटा दिखाती है। नदी के उभय तटों पर ऊँची पथरीली भूमि है। इसी पर नगर बसा था जिसके खडहर अद्यापि कई मील तक विस्तृत हैं। और उभय तटों पर देवालयों की पाँतें, कूप, बावली, राजाओं की समाधिओं पर के मन्दिर देख पड़ते हैं, जिनका विशेष वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। जब वेत्रवती ओड़छे के मध्य में पहुँचती है तब वह दो धारों में विभाजित हो जाती है और मील भर के लगभग लंबा एक अंडाकृत टापू बीच में रह जाता है। इसी रम्य भूमि पर महाराज रण-रुद्र जी ने ओड़छा बसाया था।

किसी कवि ने सत्य कहा है "गुण ना हिरानो गुण ग्राहक हिरानो है।" राजा गुणग्राहक चाहिये; फिर गुणियों की त्रुटि कहाँ। राजा रणरुद्र की गुणग्राहकता से आन की आन में सैकड़ों गुणी, पण्डित, विद्वान, नीतिज्ञ ओछड़े में आन बसे; सब का राज दरबार से सत्कार होने लगा। महाराज रणरुद्र के पश्चात्, महाराज भारतचन्द्र, और तब हरिचन्द्र राजा हुए। इन सपूतों ने अपने पूर्वजों के राज्य को और भी बढ़ाया। कृतघ्न शेरशाह सूर ने पूर्व उपकारों को भूल महाराज हरिचन्द्र पर आक्रमण किया। परन्तु अन्त में वह कायर इनकी कृपाण का लेख अपने भुजा पर लिखा रक्तस्रावित आहत हो कायरों की भाँति रण से भाग गया। ओड़छे का विशाल चतुर्भुज जी का मन्दिर इन्हीं महाराज का कीर्तिस्तम्भ है। यह स्वर्ण कलशमय मन्दिर तीन शिखरों में विभाजित है। एक तो पर्वत के समान ऊँची बैठक पर यह मन्दिर बनवाया गया है, दूसरे मन्दिर की ऊँचाई भी एक पहाड़ के समान ही है। इसका विस्तृत सभा-मण्डप वृन्दावन के गोविन्ददेव जी के मन्दिर से किसी अंश में न्यून नहीं हैं। सभामण्डप में

वायु तथा उजेले के लिये द्वार लगे हैं और एक छोर पर चतुर्भुज जी की मूर्ति स्थापित है। सभा-मण्डप के किसी द्वार पर खड़े हो जाइए, उस ओर के नगर का सब विभाग हथेली पर की वस्तु की भाँति दृष्टिगोचर होगा। और छत पर से तो समस्त नगर ही देख पड़ता है। यह मन्दिर एक छोटे किले के समान है और ऐसा दृढ़ है कि कदाचित तोपों की मार भी वह सरलता से सहन कर सके। भूलभुलैयों की भाँति इसकी छत पर द्वार कटे हैं। अपने ढङ्ग का यह मन्दिर ऐसा अनूठा है कि कदाचित् बुंदेलखण्ड में कोई ऐसा मन्दिर न निकले। परन्तु किन्हीं विशेष कारणों वश यह मन्दिर अपूर्ण सा रहा और महाराज स्वर्ग यात्रा कर गये और राज्य सिंहासन पर यशस्वी महाराज मधुकर साह राजा हुए। मुग़लवंश का भाग्य इस समय पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चमचमा रहा था। क्षुद्र स्वार्थी लोभीजन दिल्लीश्वर की तुलना "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कह कर परमेश्वर से तुलना करने लगे थे और अपनी कुटिल नीति से अकबर भारतवर्ष के हिन्दू राजामात्र से अपना सम्बन्ध जोड़ उन्हें धोखा दे मुसलमान बनाने का प्रबन्ध कर रहा था, कि इतने में महाराज मधुकरसाह का अर्कोदय हो उठा। उनकी विमल कीर्ति मुग़ल सम्राट् का हृदय शालने लगी। उसके यश का खद्योत इनके यशार्क के सम्मुख छबिछीन हो गया और उसके यश की जर्जरित नौका इनके अगम कीर्तिसागर में डूबती जान पड़ी। तब मुग़ल सम्राट् ने ईर्षावश इन्हें भी राजपूताने के और राजपूतवंशों के समान अपने दासत्व-शृङ्खला में बाँधने के नाना उपाय रचे, परन्तु यहाँ तो 'भूख मरै दिन सात लौं सिंह घास नहिं खाय' की दशा थी। अकबर ने सब प्रयोगों के निष्फल होने पर अपने पुत्र मुराद को बलाध्यक्ष कर इन पर सेना सन्धान की। परन्तु वह सेना महाराज के कृपाण के प्रज्वलित दीपज्योति की पतङ्ग हुई। मुराद रण से भाग गया, अन्त में अकबर ने हार मान कर

इनसे सन्धि कर ली। कवीन्द्र केशवदास जी के पितामह कृष्णदत्त जी मिश्र, जो प्रख्यात प्रबोध-चन्द्रोदय नामक रूपक के रचयिता हैं, इन्हीं महाराज के राजपण्डित थे। इन्हीं घटनाओं के स्मरणार्थ कवीन्द्र केशवदास जी ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं—

देव अदेवन को चरणोदक बोधो सवै कलि के कुलमानी।
दारिद दुःख बहाय दए जिन दीरघ दान कृपान के पानी॥
लोकहि* में परलोक रच्यो अरि देह विदेहन की रजधानी।
राज मधूकरसाह सो और न रानिन जैसी गणेशदै रानी†॥
वापि बघेले को राजसुखायगो खोपरि क्षुद्र पठानि अठानी।
केशव ताल तरङ्गनि सूख गई सिगरी रजधानी सुवानी॥
शाह‡ अकब्बर अर्क उदय मिटि मेघ महीपति की रजधानी।
उजागर सागर श्री मधुसाह के तेग चढ़्यो दिनही दिन पानी॥

दोऊ दीन बखानही जग में जाकी कृत्ति।
कृष्णदत्त§ मिश्रहिं दई, जिन पुराण की बृत्ति॥

इनका और अकबर का यहाँ तक घनिष्ट सम्बन्ध बढ़ता गया और अकबर इनका यहाँ तक कृपाकांक्षी रहा कि उसने इनके पुत्र महाराज रत्नसेन के सिर पर अपने हाथ से पगड़ी बाँधी और इनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामसाह की सहायता ले दक्षिण विजय किया। महाराज के स्वर्गवासी होने पर वीरकेशरी महाराज वीरसिंह देव राज्याधिकारी हुए। औदार्य, निश्छलता और शौर्य इन्हीं के भाग में आ पड़े थे। अकबर के आचरणों से इन्हें स्वाभाविक घृणा थी। व्यर्थ राजपूत राजाओं को अपनी बेटियाँ

---

* से अभिप्राय रघुनाथ जी के मन्दिर निर्माण करने का है।

† यह राजमहिषी थीं। यही रघुनाथ जी की मूर्ति लाई थीं।

‡ इस पद में मुग़ल सम्राट की सेना के हारने का इङ्गित है।

§ यही कृष्णदत्त मिश्र महाराज के राजपण्डित थे और केशवदास जी के पितामह थे।

यवनों के घर व्याहने के लिये सताने आदि की कार्रवाइयों को सुन सुन इनकी क्रोधाग्नि भड़क उठा करती थी। यह ऐसा अवसर ढूँढ़ा ही करते थे कि जिससे अकबर किसी प्रकार इनसे रण रोपै और यह अपने हाथ से रणभूमि में उसका दर्प दमन करें। होते होते ऐसा अवसर आन ही पड़ा। युवराज सलीम और उसके पिता अकबर के बीच परस्पर वैमनस्य रहा करता था, क्योंकि अकबर तो अपने मन्त्रियों के पैरों चलता था, विशेषतः अबुलफज्ल के। और अबुलफज्ल यह चाहा करता था कि अकबर के पश्चात् किसी ऐसे को बादशाह बनावे जो उसके हाथ की कठपुतली हो। सलीम अपने पैरों चलनेहारा था, इसी कारण वह अबुलफज्ल को खटकता था। अबुलफज्ल फोड़ तोड़ के बल से अकबर को सलीम से लड़ाता रहता था। सलीम ने अपना पक्ष पिता की दृष्टि में निर्बल पाकर किसी बड़े तथा बलवान का आश्रय ढूँढ़ना चाहा और उसकी दृष्टि में व्रतवीर महाराज वीरसिंह देव ही "निर्बल के बलराम" देख पड़े। सलीम आकर महाराज का पाहुना हुआ और उसने अपना सब वृत्तान्त कहा। महाराज ने उसे सहायता देने का सङ्कल्प किया और जब गोलकुण्डे से अबुलफज्ल लौट कर आगरे आ रहा था, तब ग्वालियर के निकट आन्तरी की घाटी में इन्होंने उससे रण रोपा और अपने हाथ से अकबर के एक मात्र प्यारे मन्त्री का शिर काट कर सलीम के पास प्रयाग भेज दिया और अकबर को रण रोपने के लिये उत्तेजित करना चाहा। परन्तु अकबर इतने पर भी इनके सम्मुख रण रोपने का साहस न कर सका और रो रो कर अबुलफज्ल के शोक में अपना जीवन घटाता रहा और अन्त में अपने बुढ़ापे के दो वर्षो को दुख से काट मर गया। ओड़छे का राज्य तथा बुन्देल कुल के भाग्य का भानु इस समय पूर्ण उन्नति पर था। भारतवर्ष भर में उसकी प्रख्याति हो रही थी। राजसभा सर्वाङ्ग पूर्ण थी। महाराज

वीरसिंह देव को महाराज इन्द्रजीत से सहोदर मिले थे, जिनका चातुर्य्य संसार भर में प्रगट था। महाराज को सावंत विक्रमसिंह अर्जुनसिंह ऐसे स्वामिभक्त कर्मचारी और रामचन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक प्रिया, विज्ञान गीता ऐसे ग्रन्थों के रचयिता कवीन्द्र केशवदास से कवि और प्रवीणराय, सत्यराय रङ्गराय सदृश काव्यकलासम्पन्न गान तथा वाद्य-विद्या-पारङ्गत गायक मिले थे। 'ओड़छाधीश की जय' देश देशान्तर में बोली जाती थी। ओड़छे के इन्हीं प्रतापपुञ्ज दिनों का वर्णन केशवदास ने किया है। यथा—

केशव तुङ्गारण्य है नदी वेतवै तीर।
नगर ओड़छो बहु बसै पण्डित मण्डित भीर॥

ओड़छे तीर तरङ्गनि वेतवै ताहि तरै रिपु केशव को है।
अर्जुन बाहु, प्रवाहु प्रबोधित रैन ज्यों राजन की रज मोहै॥
ज्योति जगै यमुना सी लगै युग लोचन लागत पाप विमोहै।
सूरसुता शुभ सङ्गम तुङ्ग तरङ्ग तरङ्गति गङ्ग सी सोहै॥

ऐसी उन्नति के दिनों में, पाठक महानुभाव, हम आपको एक बार उस टापू पर जो तुंगारण्य से आगे हम आपको वेत्रवती की दो धारों के बीच में दिखा चुके हैं, फिर बुलाया चाहते हैं। यह टापू रघुनाथ जी के मन्दिर के द्वार के सामने एक सरल रेखा में पड़ता है। चतुर्भुज जी के मन्दिर के सभामण्डप में खड़े हो जाइये, इस टापू की एक एक इञ्च भूमि देख पड़ेगी। जनरव है कि एक बार महाराज वीरसिंह देव चतुर्भुज जी के मन्दिर का दर्शन कर सम्मुख के द्वार पर खड़े वेतवा की तरङ्गमाला को देख रहे थे, कि इतने में उनको अनायास एक ग्रामीण युवती देख पड़ी। यह युवती अपने शिर पर एक डलिया लिए दूसरे तट से आ रही थी। ज्योंही नदी की एक धार मंझिया कर टापू के तट पर पहुँची, त्योंही वह प्रसवपीड़ा से विकल होकर शिर से डलिया उतार वहीं बैठ गई और मूर्च्छित हो गई। थोड़ी देर पीछे वह

फिर विकल हो कर रो उठी। दयालु वीरसिंहदेव यह कौतुक देख ही रहे थे। उनको प्रगट हो गया कि यह नवलबाल प्रसव-पीड़ा से विकल है। महाराज ने उसी समय राजमन्दिर में जा परिचारिकाओं को भेजा कि वे इस निस्सहाय युवती की रक्षा करै। परिचारिकाओ ने जाकर उसे सम्हाला और वहीं उसके पुत्र का जन्म हुआ। महाराज वीरसिंह देव ने उसे तुरन्त पालकी पर बालक सहित उठवा मँगाया और बड़े प्रेम से उसकी रक्षा और सेवा कराई। अन्त में उसे उसके पति को सौंप दिया और प्रस्थान के समय उसे बहुत सा धन रत्न वस्त्रादि दे अपनी बेटी कह सम्बोधन किया। वह युवती ब्राह्मण वर्ण की थी; सती ब्राह्मणी उनको बहुत आशीर्वचन कहती अपने पति के घर गई। राजा के इस दयासम्पन्न कार्य की ख्याति फैल गई। कहते हैं कि जब महाराज उस ब्राह्मणी को प्रस्थान करा रहे थे, तब एक महात्मा आकर राजा के सम्मुख खड़े हो गए और बोले कि राजन्! तेरा यह पुण्यकार्य तेरे सब पुण्य कार्यों से गुरुतर है; यह टापू सिद्धाश्रम है और तूने भी यहाँ यह महायज्ञ किया है। यदि तू यहाँ पर अपना राजमन्दिर तथा कोट बनवावेगा तो तेरा आतङ्क वहाँ पर बैठ आज्ञा करने से दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जायगा। सिद्ध-वचन शिर धर कर राजा ने उसी समय वहाँ राजमन्दिर आदि बनवाना प्रारम्भ कर दिया। कहते हैं कि जब क़िले के लिये टापू में नींव खोदी जा रहा थी. तब एक मठ भूमि के भीतर देख पड़ा और जब वह खोला गया तो एक और सिद्धजी के दर्शन हुए, जिन्होंने यही आदेश किया कि मेरे मठ को वैसे ही बंद करके ऊपर से अपना कोट बना लो। राजा ने वैसा ही किया और कुछ काल में कोट बन कर प्रस्तुत हो गया जिसका सविस्तर वर्णन हम अन्य स्थानों के साथ आगे चलकर करेंगे। महाराज के कोट के भीतर ही और बहुत से कार्यालय बन गए और ओड़छा राजसभा के प्रवीण सभासदों के सुयश की सुवास दूर दूर तक

फैलने लगी। महाराज और उनके सहोदर इस सुअवसर और अपने सौभाग्य को परिपूर्ण देख फूले नहीं समाते थे। "संसार परिवर्तन शील है" यह बात महाराज भी भली भाँति जानते थे। उन्हें यह भली भाँति ज्ञात था कि मध्याह्न के पश्चात् साँझ होती है। शरीरधारी एक न एक दिवस मृत्यु का ग्रास होता ही है। कवीन्द्र केशवदास जी से महाराज ने स्पष्ट शब्दों में एक बार कह ही डाला कि हमारे जीवन की सन्ध्या अब होने का समय निकट आ चला; इसका तो मुझे कुछ शोक नहीं है परन्तु जब यह ध्यान आता है कि मृत्यु के प्रचण्ड बवण्डर के झोंके से उड़ बालू के कणों की भाँति यह मण्डली भी तितर बितर हो जायगी तो आँखों के सम्मुख अन्धकार सा छा जाता है और चित्त शोकाकुल हो उठता है, क्योंकि ऐसा समाज अब जन्मान्तर में भी मिलना दुस्तर प्रतीत होता है। गुरुवर ! क्या आपके शास्त्र में कुछ ऐसा उपाय है जिससे यह समाज अधिक काल तक स्थिर रह सके ? कवीन्द्र ने उत्तर दिया कि राजन् ! उपाय तो अवश्य है, परन्तु बहुत दुखप्रद है। समस्त सभा यदि एक बार ही आत्म-समर्पण कर दे तो समाज प्रेतयोनि में एक सहस्त्र वर्ष तक स्थित रह सकती है। राजा ने उपाय से सहमत हो कृत्य का विधान पूछा। कवीन्द्र ने प्रेतयज्ञ का विधान कहा। राजा ने यज्ञ के लिये आज्ञा दी। तुङ्गारण्य पर वेत्रवती तट के दक्षिण ओर प्रेतयज्ञ के लिये वेदी रची गई और वहीं पर सब सभा प्रेतयज्ञ में आत्म-समर्पण कर भस्मीभूत हुई। मेरे अनुमान में यह ठौर महाराज वीरसिंह देव के समाधि-मन्दिर के निकट किसी स्थान पर है। महाराज के भस्मीभूत होते ही ओड़छे के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जिस वीर केशरी ने अकबर सम प्रबल सम्राट् का दर्प दमन किया था, उसके ही निर्बल पुत्र शाहजहाँ बादशाह के आधीन हो दिल्ली के दर्बार आम के खम्भों से टिक कर विनीत भाव से खड़े रहने लगे। केशवदास, विक्रम-

सिंह, अर्जुनसिंहादि आमात्यों के ठौर प्रतीतराय सदृश आमात्यों की प्रतीत होने लगी ! विहारीदास सम कवि यह कह "जिन दिन देखे वे कुसुम गई सुबीत बहार। अब अलि रही गुलाब की अपति कटीली डार" ओड़छा छोड़ने लगे। ओड़छे की राजसभा ने यहाँ तक पल्टा खाया कि जो राजबन्धु बन्धुप्रेम में एक दूसरे पर प्राण निछावर करने को प्रस्तुत थे, उन्हीं की गद्दी के अधिकारी अपने सहोदरों को विष देने लगे। राजकुमार हरदेव सिंह जी* को उनके बड़े भाई ने अपने स्वपत्नी द्वारा विष दिलवाया। इस जघन्य कार्यवश राजवंश से सब सम्बन्धी और सजातीय रुष्ट हो गए। जिन वीरों पर राज के महत्व मन्दिर की नींव थी, वह निरुत्साहिता रूपी कुदाल से ऐसे पोले पड़े कि राज्य धसकने लगा। सम्बन्धी इधर उधर छितर बितर हो अपने छोटे-छोटे राज्य अलग बना बैठे, जिनमें अब तक बुन्देलखण्ड के अन्य राज्यवश हैं। ओड़छा धीरे-धीरे उजड़ने लगा। कोई विशेष ख्याति के कार्य इन सभों में ऐसे नहीं हुए जिनसे इतिहास के पत्र सुभूषित होते, परन्तु तब भी राज ओड़छे में रहा और ओड़छे के राजमन्दिर में दीपक जलते रहे; परन्तु कुछ काल हुआ राजधानी ओड़छा से उठा कर टीकमगढ़ में कर दी गई। ओड़छे के राजमन्दिरों में ताले पड़ गए। जहाँ रात्रि दिवस राजकर्मचारी, राजकुमार, राजमहिषी, सैनिक, सेवक, दास-दासियों के कोलाहल से "निज पराय कछु सुनिय न काना" का वाक्य सत्य होता था, वहाँ अब चतुर्दिक निस्तब्धता ही निस्तब्धता भीषण रूप में छाई है।

मार्ग—एक सीधा मार्ग रर से ले तुङ्गारण्य और कञ्चनाघाट तक मरहठों की हवेली के नीचे से होकर चला गया है। मार्ग के किनारे पर प्रायः वृक्षों का अभाव है, परन्तु उभय ओर

---

* प्रकट हो कि विशूचिका के दिनों में इन्हीं हरदेव की पूजा देश देशान्तर में रोग शान्त्यर्थ होती है।

मीलों तक कोसों की चौड़ाई में पक्के मकानों के खण्डहर दूकानों के दर, चौतरे और धनाढ्यों के घरों के उत्तुङ्ग द्वार तथा भीतें देख पड़ती हैं। गङ्गा के मार्ग में मदार के गीतों की भाँति इन्हीं खण्डहरों पर एक बड़े विस्तृत उत्तुङ्ग शिखर मय मसजिद देख पड़ती है। उसी के दूसरी ओर प्रतीतराय के महलों के द्वार खड़े हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती है वहाँ तक खण्डहर ही खण्डहर देख पड़ते हैं जो इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि ओड़छा एक समय में इस देश का एक अद्वितीय नगर था और कवीन्द्र केशव के "नगर ओड़छो जहँ बसैं पण्डित मण्डित भीर" वाक्य को सत्य करता था। परन्तु शोक कि वहाँ न अब पण्डित हैं न पांडित्य, न चतुर हैं न चातुरी! निर्जन और निस्तब्ध हो श्रीमानों के यह निवासस्थान स्यारों के विश्रामागार हो रहे हैं; और निखण्ड काली अर्धनिशा में केवल इन्हीं बन जीवों का रोदन तथा वायु संयोग से पत्तों की खड़खड़ाहट प्रकृति देवी की निद्रा को प्रहरी रूप से चौंकानेहार प्रतीत होते हैं। नगर के मध्यभाग में सड़क ने एक हवेली को काटा है, जिसका नाम हमें मरहटों की हवेली बताया गया। इस पर मीने का काम अत्यन्त सुन्दर है। उसी हवेली की पूर्व दिशा की ओर हरसिद्धि माई का मन्दिर है। संक्षेपतः यह मार्ग श्रीमानों के मन्दिरों का योंही हृदय विदीर्ण करता हुआ बाज़ार में पहुँचता है। यह एक छोटा सा पाँच छः दूकानों का बाज़ार है, बाज़ार में पहुँच कर सड़क त्रिशूलाकार हो जाती है। एक शाखा रघुनाथ जी के मन्दिर, नौचौकिया फूल बाग़ और चतुर्भुज जी के मन्दिर की ओर जाती है। दूसरी वेत्रवती से समानान्तर रेखा में होकर व्यासपुरा, महाराज वीरसिंह देव के समाधि मन्दिर, कञ्चना घाट, तुंगारण्य की ओर जाती है। तीसरी शाखा वेत्रवती की एक भुजा पर के पुल से होकर राज मन्दिरों की ओर जाती है। यह मार्ग त्रिशूल ऐसा प्रतीत होता है।

रघुनाथ जी का मन्दिर—यह चौक महाराज मधुकरसाह के स्वयं रहने का है। सुनते हैं कि पहिले यह राजमन्दिर था। इसके द्वार पर बड़े-बड़े खण्डहर पड़े हैं। द्वार से यह स्थान बहुत दिव्य नहीं प्रतीत होता। एक मालिन चौखट के निकट बैठी यात्रियों के हाथ फूल मालादि बेचा करती है। अन्दर प्रवेश करते ही बड़ी बड़ी उत्तुङ्ग दुहरी दालानें, कोठे, आदि जो राजमन्दिर के समीचीन हैं, देख पड़ेंगे। इस मन्दिर का आँगन वर्गाकार बहुत बड़ा है। इस पर एक बड़ी दालान तीन खण्ड की है। ऐसी ही दालानें चारों ओर हैं। यह दालान काँच, बर्तन, गोले और चित्रों से अलंकृत हैं। इसी दालान के भीतर राघवेन्द्र की मनोहर प्रतिमा है। महाराज मधुकरसाह के राजप्रासाद का देवालय हो जाना भी एक ऐतिहासिक सम्वाद है। पाठक महानुभावो! कहते हैं कि महाराज मधुकरसाह की राजमहिषी महाराणी गणेशदेवी ने एक बार एक विचित्र स्वप्न देखा। जब महाराणी अपने शयनागार में पुष्प-शय्या पर एक निशा स्वस्थ और शान्त भाव से सो रहीं थीं, तब उन्हें अकस्मात् एक श्यामल बालक, जिसकी दैवी छवि थी, देख पड़ा। महाराणी ने देखा कि वह बालक खेलते खेलते एक अगाध सरिता में निमग्न हो गया और वहाँ से बड़ी मधुर बाल-वाणी में पुकार कर महाराणी से कहने लगा कि रानी! मुझे लीजिए। यह स्वप्न देखते ही महाराणी चौक पड़ीं। अर्धनिद्रित दशा में ऐसी विह्वल हो उठीं कि उस बालक को लेने के लिये उठ खड़ी हुई और जब ध्यान आया कि वह तो स्वप्न था, तभी वहीं मुग्ध भाव से खड़ी हो रहीं। परन्तु इसी क्षण से उस धर्म-धुरीणा, दयाशीला महाराणी के हृदय में वह बालछवि बस गई। रात दिन सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, वही बालक उनकी आँखों के सम्मुख फिरने लगा। महाराणी की तन दशा भी बदलने लगी और चिन्ता से शरीर भी कृश हो गया। होते होते इस स्वप्न का वृत्तान्त महाराज तक पहुँचा। महाराज ने राज पण्डितों

से इसका मर्म पूछा। उन दीर्घदर्शियों ने विचार कर एक मत हो उत्तर दिया कि दीनबन्धु! ऐसा ज्ञात होता है कि कोई देवमूर्ति किसी दुर्घटनावश किसी जलाशय में पड़ गई है और महाराणी को धर्मधुरीणा जान अपने उद्धारार्थ आदेश कर रही है। रानी ने भी इस उत्तर से सहमत हो महाराज से तीर्थ यात्रा की आज्ञा चाही। महाराज ने सहर्ष आज्ञा दी और यात्रा का प्रबन्ध कर दिया। महाराणी गणेश देवी ने यह नियम किया कि जब वह किसी तीर्थ में पहुँचती थीं, तो यथा विधि देवाराधन कर जलाशय में स्नानार्थ प्रवेश करती थीं और यह कह कर कि 'महाराज! आइए, मैं सेवा को प्रस्तुत हूँ,' जलाशय में डुबकी लगाती थीं, और जब कुछ हाथ न आता था तो खिन्न बदन वहाँ से प्रस्थान करती थीं। महाराणी सब तीर्थों में हो आई, केवल अयोध्या शेष रह गई। महाराणी का नैराश्य बढ़ता जाता था। होते होते वह अयोध्या में पहुँचीं और यह दृढ़ संकल्प कर कि, यदि यहाँ भी मेरी आशा पूर्ण न हुई तो इस पापपुंज शरीर की जर्जरित नौका को सरयू के अंक ही में समर्पण करूँगी, ज्योंही महारानी ने स्वर्ग द्वार के निकट सरयू में प्रवेश किया और कातर हो भव-भयहारी श्री अवधबिहारी की शरणाश्रित हुई, त्योंही 'जेहि को जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कुछ संदेहू" के न्याय से जल से बुड़की मार के निकलते हुए ही एक दिव्य प्रतिमा उनके हाथों में अपने आप ही आ गई। महाराणी ने अपनी खोई हुई निधि फिर से पाई और मारे आनन्द के गद्‌गद हो उठीं और तुरन्त जल से बाहर निकल आईं। यहाँ पर यह स्मरण रखना योग्य है कि श्रीमती को यह मूर्ति पुष्य नक्षत्र में मिली थी, इसी से उन्होंने यह विचार स्थिर किया कि केवल पुष्य नक्षत्र में ही देव मूर्ति की यात्रा कराई जावे। अस्तु वह पुष्य ही पुष्य नक्षत्र में अयोध्या से चलकर ओड़छे पहुँचीं और अपने राजमन्दिर में उन्हें स्थापन कर आप दूसरे चौक में निवास करने लगीं और

अहर्निश भगवान् की सेवा में तत्पर रहने लगीं। इस मन्दिर में स्थापित श्रीरघुनाथ जी की विशाल मूर्ति दर्शनीय है। उसका सौन्दर्य वर्णन करते हुए "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" की ही कहावत होती है।

चतुर्भुज जी का मन्दिर—रघुनाथ जी के मन्दिर के सन्निकट ही यह विशाल मन्दिर है। बुन्देलखण्ड भर में यह मन्दिर अद्वितीय है और इसकी सीढ़ियों के प्रस्तरों पर ठौर ठौर शिलालेख हैं; ओड़छे की ऐतहासिक घटनाओं की रंगभूमि इसी मन्दिर के चतुर्दिक विस्तृत हैं; परन्तु न जाने क्यों महाराज ओड़छाधिपति की इस मन्दिर पर अधिक प्रीति नहीं है, क्योंकि यह स्वर्गीय स्थान बहुत मन्द और ऊभट दशा में डाल रक्खा गया है। इस स्थान के उपयुक्त यहाँ कुछ सामान नहीं है।

किला

यहाँ से चल वेतवा नदी की एक बाहु पर के पुल पर से होकर हम महाराज वीरसिंहदेव के किले के द्वार पर पहुँचे। इस समय हमें यह सुधि नहीं रही थी कि हम चैतन्य अवस्था में हैं और कुछ दृश्य आँखों के सम्मुख देख रहे हैं, अथवा निद्रित दशा में कुछ स्वप्न देख रहे हैं, या अनायास किसी देवलोक में आ गए हैं और वहाँ के दृश्य देख रहे हैं अथवा किसी महान् कवि की कविता में वर्णित किसी दृश्य का अनुभव कर रहे हैं। बहुत देर तक हम प्रतिमावत् उसी स्थान पर खड़े रहे और भौचकवत् देखा किए। न पग आगे पड़ता था न पीछे ही हटाया जाता था। किले के द्वार से प्रवेश कर सबसे प्रथम जनहीन जहाँगीरपुर नामक मन्दिर में प्रवेश किया। यह राजप्रासाद मुग़ल सम्राट् जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध है; क्योंकि जहाँगीर जब अपने घनिष्ठ मित्र वीरसिंह देव जू के अतिथि हुए थे, तब वह इसी राजप्रासाद में ठहराए गए थे। इसी मन्दिर को शीशभवन भी कहते हैं। बहुत ऊँची बैठक

पर यह विस्तृत राजमन्दिर तीन खण्ड ऊँचा बना है। इसका आँगन बहुत स्वच्छ और लम्बा चौड़ा है। लाल पत्थर की सीढ़ियाँ तीनों खण्डों में लगी हुई हैं। मन्दिर का आकार वर्गक्षेत्र का है। प्रत्येक खण्ड में चौड़ी चौड़ी खुली छतें और उनके समानान्तर बन्द कमरे, जिनमें खिड़की, झरोखे, गौखे हैं, बने हुए हैं। तीसरा खण्ड भी ऐसा ही है। उस पर के कलश और कँगूरे तथा गुमजियों की सुराहियाँ मीने के काम से अलंकृत हैं। इसी के चतुर्दिक किले की दीवारें मीलों तक फैली चली गई हैं। यह राजप्रासाद इतना विस्तृत है कि उसमें घूमने से और सीढ़ियों पर चढ़ने से बलवान् मनुष्य भी थक जाते हैं। इसके दूसरी ओर एक फाटक है जो रनवास का द्वार था और सिंह पौर के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि प्रेत यज्ञ की वीभत्स चर्चा पहिले पहल उसी के सन्निकट किसी मन्दिर में उठी थी। इस अनुपम राज मन्दिर की छत पर से समस्त ओड़छा हथेली पर की रक्खी हुई वस्तु के समान देख पड़ता है। अपने पदो के नीचे ही किले की दीवारों के भीतर उगा हुआ भयानक बन, राज कर्मचारियो के मन्दिरों के चिन्ह, कुएँ, बावली, व्यासपुरा के खण्डहर, भूमि तल पर सफेद पगड़ी की भाँति फैली हुई वेत्रवती की पीन धारा मन्दिरो और समाधियो की पाँतें, नगर के ऊजड़ चिन्ह, ओड़छे के निर्जन मार्ग, और वृक्षो पर लंगूरों और बन्दरो तथा पक्षियों के समूह और भिटारों के निकट स्यार दृष्टि आते हैं। इसके अतिरिक्त केवल निस्तब्धता ही निस्तब्धता बरसती है। यह मन्दिर ऐसा दृढ़ बना है कि ऐसी मन्द दशा में छोड़ दिए जाने पर भी कहीं कुछ टूटा फूटा नहीं है; कहीं कहीं एक दो गौखों में से पत्थर शिलाएँ गिर गई हैं। यहाँ से चल कर हम इसी से मिले हुए राज मन्दिर नामक महल में पहुँचे। इसके द्वार पर दर्बार हाल बहुत सुन्दर सुडौल तिहरी दालान का बना है। इसकी छत मे सुनहला और रङ्गीन काम है। ओड़छे के बड़े बड़े दर्बार और राज तिलक

के उत्सवादि इसी में होते थे। इसे देखते ही महाराज वीरसिंह देव जू के प्रबल प्रताप और आतङ्क का चित्र आँखों के सम्मुख घूम जाता है। राज्य सिंहासन के लिये एक ऊँचा चबूतरा सा अलग बना है। भारत के गौरव, मान्य पुरुषों, आर्य-कुल-कमल भास्करों के पवित्र राज सभा मण्डप में यद्यपि अब न सिंहासन है न राज गद्दी, तद्यपि हमने उसे पवित्र और मान्य ठौर जान कर नम्र भाव से सच्चे राज भक्त की भाँति उसमें प्रवेश किया और उसका समुचित मान कर राजमन्दिर में प्रवेश किया। इस मन्दिर में बहुधा टीकमगढ़ नरेश ठहरते हैं। जहाँगीरपुर की भाँति यह राजमन्दिर भी बड़ा ही विस्तृत और सुन्दर बना है, परन्तु इसमें मीने का काम नहीं है। हाँ, दीवारों पर और छतों मे अद्भुत चित्रकारी अवश्य है और ठौर ठौर शीशे भी जड़े हैं। इसकी स्वच्छता भी जहाँगीरपुर से अधिक है। यह किले के फाटक से मिला हुआ है। वेत्रवती इसके बहुत ही निकट बही है। महाराज ने इसमें ऐसे झरोखे बनाए हैं जहाँ से बैठ कर वह श्री चतुर्भुज देव की मूर्ति का मन्दिर के भीतर ही होते हुए सेज से सिर उठाते ही दर्शन कर सकते थे। नीचे का खण्ड इस मन्दिर का कुछ अधिक मलीन हो गया है, परन्तु ऊपर की भीतें बहुत स्वच्छ हैं; और ऐसा जान पड़ता है मानो कारीगरों ने अभी बना कर काम छोड़ा है। महाराज को यह राज मन्दिर सुनते हैं कि बहुत प्रिय है; तब भी हम यह कहे विना नहीं रहेंगे कि इस मन्दिर के योग्य इसमें सजावट का नाम भी नहीं है; क्योंकि जहाँ कहीं सुनहरी वेलें खण्डित हो गई हैं, वहाँ चूना पोत दिया गया है, जो ऐसा जान पड़ता है मानो कमखाब के वस्त्र में गाढ़े का पैवन्द हो। उदास भाव से इस राजमन्दिर को छोड़ हम मार्गत्रिशूल की तीसरी धारा पर चले। इस पर कवीन्द्र केशवदास जी के व्यासपुरे खण्डहर देख पड़े। ये खण्डहर न थे, किन्तु उन पूर्वजों की जिनके नाम से अब भी हमारे देश, जाति और

साहित्य का गौरव है हमें बिखरी हुई और पगमर्दित होती हुई अस्थि प्रतीत होती थी, जिनसे हम निर्लज्ज हिन्दुस्तानियों के मुख में कलंक की कालिमा पुतती जान पड़ती थी। धन्य है विद्या-विलासी इंगलैंड! जहाँ के लोग आज पर्य्यन्त शेक्स-पियर की कुर्सी और मिल्टन के घर को देखने सैकड़ों कोस जाते हैं और एक तुच्छ चिन्ह तक को प्राणवत् प्रिय जान सुरक्षित रखते हैं; और धिक्, शत धिक्, और सहस्र धिक् है हम हिन्दू सन्तानों को जो अपने देश के गौरव ही नहीं किन्तु अपने ही पूर्वजों के स्मारक बनाने की चर्चा कौन चलावे, स्वयम् उनके चिन्हों को, जिनमें हमारा कुछ व्यय भी नहीं हुआ, नाश होने देते हैं, और उसका गौरव नहीं करते। कहते हैं कि इसी व्यासपुरे में कवीन्द्र केशवदास जी का घर था जिसके खँडहर अद्यापि हमें रुलाते हैं। इसी के पास चतुर्भुज जी के मन्दिर के द्वार के निकट एक पीपल का वृक्ष, तथा हनूमान जी की एक छोटी सी मूर्ति है। कवीन्द्र उसी मूर्ति का पूजन करते थे और ऐसा लोगों का कथन है कि प्रेतयोनि में कविवर ने उसी पीपल के वृक्ष पर निवास किया था और भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी से वहीं भेंट कर उन्हें रामचंद्रिका सुनाई थी। इस चर्चा को सुन हमें रोमांच होता था। इसी स्थान के निकट कवीन्द्र के साथ प्रेत यज्ञ में भस्मी भूत होने हारे प्रसिद्ध प्रेत बारेलला के मकान के खंडहर हैं। लोगों का विश्वास है कि बारेलला अब तक प्रेत रूप में वहाँ निवास करता और लोगों को अपनी रुचि और उनके विश्वासानुसार सुख दुख देता है। साहित्य प्रेमियों के देखने ही के योग्य यह स्थान है। अनित्य संसार का यह दृश्य भी देख कर हम आगे बढ़े।

वेतवा का तट और घाट, छतरी

इस समय ग्रहपति का तेज मन्द हो रहा था, विश्रामार्थ वह अस्ताचल की ओर प्रबल वेग से परिधावित थे। अन्धकार का

समावेश हो रहा था। धुन्ध बढ़ती जाती थी। पवन का वेग घट गया था, जिससे न बनवृक्षों के पत्र ही खड़खड़ाते थे, न नदी में तरङ्गमाला ही उठ रही थी। तरंगमाला का क्या कहना, नदी की धारा तक रुकी जान पड़ती थी। जिधर देखो उधर साँय साँय हो रहा था। यह क्यो ? पाठको ! यहाँ ऐसा ही होना योग्य था; क्योंकि यहाँ पर साधारण लोग नहीं, किन्तु वीर, धर्मात्मा और आर्यकुल के गौरव, प्रात:स्मरणीय, प्रतापवान् राजा महाराज अपने आयुष और कर्त्तव्यो की यात्रा पूर्ण कर अटल निद्रा में निद्रित पड़े सो रहे हैं। ऐसे वीरों को निद्रित देख प्रकृति का भी हियाव नहीं पड़ता कि वहाँ कोलाहल करे, उनकी निद्रा छुटावे। अस्तु, वह भी वहाँ इस समय निस्तब्ध हो रही थी और हमें वहाँ का चित्र दिखा यह शिक्षा दे रही थी कि, संसार के चरित्रों को देख मौन धारण करो, बोलने से कुछ कार्य साधन नहीं होने का; क्योंकि इस यात्रा का अन्तिम फल मौन ही है। अन्यथा यह कब सम्भव था कि जिन महाराजाओ के आतङ्क से दिग्गज थर्राते थे, उनकी अन्तिम शय्या की यह दुर्दशा हो कि उन्हीं का समाधि-मन्दिर तक पूरा न बने ? महाराज मधुकरसाह की छतरी जलमग्न हो जावे, और कोई उसका उद्धार भी न करे ? जिन वीर केशरी वीरसिंह देव के विमल यश से राजपूत वंश का मुख उज्ज्वल है, उन्हीं की अस्थियों की समाधि पर करोड़ों मन नदी की बालू और सड़े-गले दुर्गन्धित पदार्थ पड़े हैं। जिनके उत्तङ्ग शिखरमय गगन-पथ-भेदी राजमन्दिरों पर पवन के भी आसन नहीं जम पाते थे, उन्हीं की अपूर्ण समाधि-शिखर पर कटीली घास उग रही हैं, कौवे, चील, गीध और उलूकों ने अपने घोंसले बनाये हैं। जिनके यश से आर्यावर्त आज प्रकाशित हो रहा है, जिनके बाहुबल के उपार्जित राज्य की आय से आज लाखों घरों में दीपावली होती है और साधारण उत्सवों मे लाखो रुपये आतशबाज़ी में फूँक दिये जाते हैं, हाय शोक, आज समय के फेर से उन्हीं महाराज वीरसिंहदेव

की समाधि में कोई एक दिया भी बालने वाला और झाड़ू लगाने वाला नहीं है। न किसी में इतनी पितृभक्ति है कि उस अधूरे समाधि-मन्दिर को पूरा कर दे। दिनों का फेर यही है। इस दशा को देख कर प्रकृति के अनुकूल ही वहाँ मौन धारण करना पड़ा; दुःख और विमूढ़तावश कंठावरोधन सा हो आया; आँख भरकर यह चित्र देख तुंगारण्य होते हुए महाराज सामन्तसिंह और महाराणी हिमञ्चल कुँवरि की अरक्षित खण्डित मूर्तियों का दर्शन करते हुए, इस श्मशान भूमि में चित्त की उमंगों की भी दाहक्रिया कर दीपक जलते समय मलिन चित्त से वेत्रवती के निर्मल जल का आचमन कर कालदेव को प्रणाम करते हुए झाँसी की ओर लौट चले।

८—अनुप्रास का अन्वेषण

[प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी]

वर्षों व्यतीत हुए, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललितकुमार वन्द्योपाध्याय विद्यारत्न एम० ए० महाशय ने कलकत्ता कालेज स्कायर के युनिवर्सिटी इन्सटीट्यूट में सन्ध्या समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टहास" शीर्षक बंगला प्रबन्ध पाठ किया था, जिसमें उन्होंने वंग भाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी और बंगला शब्द महावरे और कहावतें उद्धृतकर अनुप्रास का अधिकार बंगला भाषा पर दिखाया था। प्रबन्ध पढ़े जाने पर बंगला बंगवासी के (सम्पादक) बाबू बिहारीलाल सरकार बोले कि "बांगलाई कोबीतार भाषा। कारोन एतो ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषा ते नाइं। ओनुप्रास कोबीतार ऐकटी गून" अर्थात् 'बंगला ही कविता की भाषा है

क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।'

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी। क्योंकि भारत के भाल की बिन्दी इस हिन्दी को मैं कविता की भाषा जानता था, क्या अब तक जानता और मानता हूँ। मैंने सोचा, क्या हिन्दी भाषा में अनुप्रास का अभाव है? यदि नहीं, तो बंगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जाय? यह सोच विचार मैंने हिन्दी में अनुप्रास का अन्वेषण आरम्भ कर दिया। इस अनुसन्धान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ, वही आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत साहित्य में अनुप्रास का अनुसन्धान अनावश्यक जाना; क्योंकि एक तो वह भारत की प्रायः सब ही भाषाओं की जननी है। उस पर सबकी समान श्रद्धा है। दूसरे उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं तब काव्यों की कथा ही क्या है? निदर्शन के लिये निम्न-लिखित स्तव ही पर्याप्त होगा।

"गांगं वारि मनोहारिमुरारि चरणाच्युतम्।
त्रिपुरारि शिरश्चारि पापाहारि पुनातु माम्॥"

"पापापहारि दुरितारि तरङ्ग धारि
शैल प्रचारि गिरिराज गुहा विदारि।
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि
गांगं पुनातु सतत शुभ कारिवारि॥"

एक और सुनिये—

"नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्
भुजङ्गास्तुरङ्गाः कुरङ्गाः सवंगाः
अनंगारि रङ्गाः ससंगाः शिवांगा
भुजङ्गाधिपांगी कृतांगा भवन्ति॥"

हिन्दी साहित्य में भी मैंने पद्य की ओर प्रस्थान नहीं किया,

क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ अनुप्रास का अड्डा अद्भुत रूप से जमा हुआ है; यथा—

> चम्पक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
> चमू चंचरीक के चितौत चोरे चित हैं।
> चाँदी को चबूतरा चहूँधाँ चमचम करे,
> चन्दन सों गिरधर दास चरचित हैं।
> चारु चाँद तारे को चँदोवा चारु चाँदनी सो,
> चामीकर चोवन पै चंचला चकित हैं।
> चुन्नीन की चौकी चढ़ी चन्दमुखी चूड़ामनि
> चाहन सों चैत करें चैन के चरित हैं॥

अन्य भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के दो चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनन्दित और गद्गद् हो जाते हैं; पर यहाँ तो चारों चरणों में चकार की भरमार है! अफसोस है, तो भी हम हिन्दी की हिमायत न कर उर्दू और अंग्रेजी का ही आल्हा अलापते हैं। ख़ैर।

इसलिये मैंने पद्यपरित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया और वहाँ राजा रईस, राजारंक, रावउमराव, सेठ-साहूकार, कवि कोविद, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-यती, साधु-संन्यासी से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनिया-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफंगों तक की बातचीत, गपशप, बात-विचार, रहन-सहन, खान-पान, रफ़तार-गुफ़तार, चाल-चलन, चाल-ढाल, मेल मुलाकात, रंग-रूप, आकृति-प्रकृति, जान-पहचान, हेल-मेल, प्रेम-प्रीति, आव-भाव, जात-पाँत, रीति-रस्म, रस्म-रवाज, रीति-नीति, पहनावे-ओढ़ावे, डील-डौल, ठाट-बाट, बोल चाल, संग-साथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल-दख़ल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया, न बढ़ाया, न काटा, न छाँटा, और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत शकल में

जहाँ पाया वहाँ से वैसे ही उठाकर ठौर-ठिकाने से मौका-महल देख रख भर दिया है।

अन्वेषण के पहले अनुप्रास का नाम-धाम, आकार-प्रकार, रंग-ढंग और नामोनिशान जान लेना ज़रूरी है। अंग्रेज़ी के Alliteration & Assonance, उर्दू फारसी का काफिया रदीफ और संस्कृत हिन्दी का अनुप्रास नाम में भिन्न होने पर भी काम में एक ही है।

स्वर के विना व्यञ्जन वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। यानी वाक्य और वाक्यांश में बारम्बार एक ही प्रकार के व्यञ्जन वर्ण के आने को अनुप्रास कहते हैं। इसके अनेक रूप-रूपान्तर हैं पर प्रधान पाँच ही हैं; जैसे—

(१) छेकानुप्रास—भोजन विना भजन।

(२) वृत्यनुप्रास—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति का सुन्दर सिंहासन।

(३) श्रुत्यनुप्रास—खेलकूद, जङ्गलझाड़ी।

(४) अन्त्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है, भारतमित्र सुपत्र।

(५) लाटानुप्रास—शिक्षित अबला अबला नहीं है।

अच्छा अब असली हाल सुनिये। अनुसन्धान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्द-गिर्द, अगल-बग़ल, अड़ोस पड़ोस, टोले-मुहल्ले, घर-बाहर, भीतर-बाहर, आस पास, इधर-उधर, नाते-रिश्ते, बन्धु-बान्धव, भाई-बन्द, भाई-भतीजे, कुटुम कबीला, पुत्र-कलत्र बाल-बच्चे, लड़के वाले, जोरू जाँते, चूल्हे-चक्की, घरबार, अपने-बेगाने, मान-भानेज, भाई-बिरादरी, खानदान-परिवार, तमाम में अनुप्रास ही अनुप्रास नजर आने लगा। इसका अनुमान नहीं प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिये। मेरा नाम जगन्नाथप्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहाँगीरपुर निवासी जौनमाने जसवन्तरायजी के जेठे बेटे जयन्तीप्रसाद जी, मामा जयकृष्णलाल जी और लड़का

जदुनन्दन हैं। मेरा आदि निवास मथुरा, मध्य मिर्ज़ापुर और वर्तमान मलयपुर, ज़िला मुंगेर, प्रवास मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट (कलकत्ता), अल्ल मई मिश्र, हिस्सेदार मिरजामलजी और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं। उपाधि चौबे चतुर्वेदी, काम चपड़े का और उमर चालीस की है। गोत्र सौश्रवस है। क़िस्सा कोताह परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन सबकी मोह ममता और माया-मोह छोड़, मुँहमोड़, सजधज और बनठन कर अनुप्रास की तलाश में निकल पड़े।

वाणिज्य व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य व्यापार से चलता है, नौकरी-चाकरी से कुछ लेना-देना नहीं। बस, जवानी दिवानी के फन्दे में फँस, मनमानी घरजानी करता पहले बङ्गाल बङ्क की बड़ा बाज़ार ब्रेञ्च में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड़ जाकड़, हिसाब किताब, खाते पत्तर, उचन्त खाते, ख़र्च खाते, ख़ैरातखाते, ख़ुदरा-ख़र्च-खाते, बट्टे खाते, ब्याज-बट्टा, लेन-देन, नकराई-सकराई, मिती के भुगतान, पैठ पर पैठ, देने-पावने, नाम जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल-बेचाल, साझे-सराकत, सौदा-सुल्फ, तार-वार, लेने-बेचने, ख़रीद-बिक्री, खरीद-फरोख्त, बेचने-खोचने, मोल लेने, क्रय-विक्रय, मालटाल, मालजाल, मालमता, बिलटी-बीजक, बाक़ी-बकाये, मत्थे-पोते, ज़मीन-जायदाद, धन-दौलत, धन-धान्य, अन्नधन, सौ के सवाये, नफे-नुकसान, आमदनी-रफ्तनी, आगत निर्गत, रूक-धोक, दरदाम, मोल-तोल, बोहनी-बट्टे, बाज़ार दर, देनदार, दुकानदार, सर्राफ, बजाज़, मुनीम-गुमाश्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे—दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, ऑफीशियल असायनी और इनसालवेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है। केवल यहीं नहीं दल्लाल, नमूने, कामकाज, कारबार, कारब्योहार, कामधन्धे, ख़ुशी के सौदे, कल

कारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे चट्टे में भी आप आ बैठे हैं।

बाजार बढ़े, चढ़े या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मन्द, सुस्त या समान रहे, मारवाड़ी महाजन हो चाहे बंगाली व्यापारी, ब्योहरे बनिये हों चाहे ब्राह्मण अनुप्रास के चक्कर में सब ही हैं। उत्तमवर्ण अधमवर्ण में, स्वदेशीशिल्प में, सूची शिल्प में, श्रम शिल्प में, शिल्प सभा में, श्रमजीवी समवायु में, कृषिशिल्प प्रदर्शिनी में, वैश्यवृत्ति में, व्यावसायिक बुद्धि में, विज्ञान वाणिज्य में, अर्थशास्त्र में, कला कौशल में, व्यापारे वसते लक्ष्मी या लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये इस मूल मंत्र में भी अनुप्रास आ गया है। अमानत मे खयानत करो, धन ग़बन करो, चाहे बचत बचाकर नौ नकद न तेरह उधार करो कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो या सफेद को स्याह करो, बङ्क से बन्धक का बन्दोबस्त कर ब्याज बढ़ाओ, जूट पाट का फोटका या सट्टा करो पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।

साहित्य

अर्ज्जन उपार्ज्जन के उपरान्त साहित्य सेवा है। संस्कृत साहित्य की कौन कहे, राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य-संसार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य दृष्टि से नहीं चर्म्म चक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कवि-कुल-कुमद-कलाधर, काव्य-कानन केसरी और कविता कुञ्जकोकिल कालिदास भी काव्य कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं-कहीं तो कष्ट कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल कल्पना नहीं कवि कोविदों का कहना है! ख़ैर, वंशीवट, यमुना-निकट, मोर मुकुट, पीतपट, कालिन्दी कूल, राधामाधव, ब्रजवनिता, ललिता, विधुवदनी कुँवर-कन्हैया, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी, वृन्दावन, गिरिगोवर्धन, ग्वालबाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल साल, लवंगलता, विपिन-विहारी, नन्दनन्दन, विरहव्यथा, वियोगव्यथा, संयोग-वियोग, मधुर मिलन, मदन-महोत्सव और

मलयानिल ही नहीं झिल्लियों की झंकार, बीरवादर, घन गर्ज्जन, वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादर की गरज शीतल सुगन्ध मन्द मारुत, कुसुम-कलिका, मदन मञ्जरी वीर बहूटी, चोआ-चन्दन, अतर-अरगजा, तेल फुलेल, मेंहदी महावर, सोलह शृङ्गार, मृगमद, राहुरद, कुमुद कमल कलहार, स्थल-कमल, सरसिज, सरोरुह, पद्मपत्र, एलालता, लज्जावती लता, छुई-मुई की पत्ती, कोयल की कुहक, कूजित कुञ्ज-कुटीर शशि बसंती वायु, मलय मारुत मधुमास, युवक युवती नवयौवन, षोड़शी, स्मरशर, पवित्र प्रेम, प्रेमपाश प्रेमपिपासा, यामिनी-यापन, रमणी रत्न, सुखसागर, दुःखदावानल, अन्ध अनुराग, मुग्धा, मध्या प्रोषित-पतिका, वासक-सज्जा, अधवा विधवा सधवा, चित्तचोर, मनमोहन मदनमोहन, दिलदार यार, प्राणनाथ प्राणप्रिय पीन-पयोधर प्रेमपत्र, प्रेम-पताका, प्राणदान, सुखस्वप्न, आलिङ्गन चुम्बन, चूमा-चाटी, पादपद्म, कृत्रिमकोप, भ्रूभङ्ग भृकुटीभङ्गी, मानमर्दन और मानभञ्जन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कम्बुग्रीव, बाहुवल्ली, करकमल पद्मपलाशलोचन, कुचकमल, कुचकलश, कुचकुम्भ, निबिड़नितम्ब, पदपल्लव, गजगमन, हरिणनयन, केसरिकटि गोलकगोल, गुलाबीगाल, कोमलकर, दाड़िमदसन और साफ-सुथरी गोरी नारी की मधुर मुसुकान में अनुप्रास का जैसे वास है वैसे ही काली-कलूटी मैली-कुचैली नाटी-मोटी, खोटी-छोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुलटा के बिखरे बालों में भी है। तात्पर्य यह कि प्रेम में नेम नहीं, तकल्लुफ में सरासर तकलीफ है। प्रेम का पन्थ ही पृथक् है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख-दुःख और जीवन-मरण दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीक़ी हो या मजाजी उसमें मार और प्यार दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। आशिक माशूक़ और प्रेमिक प्रेमिकाओं के हावभाव, नाज़नखरे, चोचले, ढकोसले भुक्तभोगी ही जानते हैं। जो दिल जले हैं उनका दिल भला कहीं

क्यों लगने लगा ? जो सदा-सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं उनसे भला क्या होना जाना है ? जिसका सनेह सच्चा है वह लाख आफ़त विपत होते भी सही सलामत मंज़िले मकसूद को पहुँच जाता है। उसके लिये विघ्नबाधा, विपदबाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक तो अनुप्रास आया है। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान भूत भविष्यत् में, संज्ञा सर्वनाम में, विशेष्य-विशेषण में, सन्धिसमास में, कर्त्ताक्रिया कारक में, कर्त्ता कर्म करण में, अपादान सम्प्रदान अधिकरण में, सम्बन्ध सम्बोधन में, उद्देश्य विधेय में, कर्त्तरिकर्म्मणि प्रयोगों में, तत्पुरुष कर्म्म-धारय बहुब्रीहि द्वन्द्व-द्विगु समासों में, विभक्तिप्रत्यय में, प्रकृति-प्रत्यय में, आसक्ति आकांक्षा में, सार्थक निरर्थक शब्दों में. जाति व्यक्ति और भाववाचक सज्ञाओं में जब अनुप्रास का निवास है तब सामयिक साहित्य की सामग्री काग़ज़ कलम, कलम पेनसिल, रूल पेनसिल, हेण्डल होलडर, स्याहीसोख, निब पिन, चाकू कैंची एडीटर, कम्पोज़िटर. प्रिण्टर, पब्लिशर, सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक, प्राप्तपत्र. प्रेरितपत्र, सम्पादकीय स्तम्भ, साहित्य समाचार, तार समाचार, तड़ित समाचार, तार तरङ्ग विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य समालोचना, क्रोड़पत्र, वेल्यू-पेबल पारसल और प्रेस सेनसर में भी अवश्य ही है।

धर्म्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म्म-कर्म्म है। धर्म्मान्ध, धर्म्मधुरन्धर, धर्म्मधुरीण, धर्म्मावतार और सनातन धर्म्मावलम्बी बनकर पोथी पुराण, श्रुतिस्मृति, शास्त्र पुराण का पठनपाठन और श्रवण-मनन करो; प्रतिमा-पूजन. प्रतिपादन, मूर्ति-पूजा मण्डन और श्राद्ध तर्पण का शङ्का-समाधान करो; पाखण्डी पण्डों, पुरोहितों और पण्डितों के पैर पूजो; लकीर के फ़क़ीर बनो; संयम नियम, तीर्थव्रत, योग-भोग, जपतप, योगयज्ञ, ज्ञानध्यान, स्नानध्यान, पूजापाठ कर

कर्म्मकाण्डी कहाओ; हव्य, कव्य, गव्य, पञ्चामृत, पञ्चगव्य, धूपदीप, चन्दन, पुष्प, कुमकुम, गङ्गाजल, तुलसीदल और ताम्बूल पूँगीफल से परमात्मा का पूजन अर्च्चन करो; चाहे आर्य्यसमाजी हो बाल-विवाह विधवाविवाह, बहुविवाह, वृद्धविवाह, बेमेल ब्याह का विरोधकर समाज-संस्कार, समाज-सुधार के साथ नियोग-निरूपण करो या खण्डन-मण्डन, शास्त्रार्थ-सन्ध्या वन्दन, होम हवन कर मांसपार्टी घासपार्टी पैदा करो पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यहीं नहीं; प्रवृत्ति, निवृत्ति, स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य, अर्थ धर्म्म काम मोक्ष, मुक्ति मोक्ष, लोक-परलोक, यम-यातना, साकार-निराकार, निर्गुण सगुण, काशी करवट, दान-पुण्य, जन्म-मरण, जन्म-मृत्यु, विषय-वासना, ब्रह्मविद्या, मुक्ति-मार्ग, ज्ञाननेत्र, आगम-निगम, वेद उपनिषद, वेदवेदाङ्ग वेदान्त, ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रसिद्ध विधिनिषेध और वेद विहित कर्म्मों में भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार-विचार, नेम धरम, नित्यनैमित्तिक क्रिया-कर्म्म, ध्यानधारणा, स्तवस्तोत्र, यन्त्र मन्त्र तन्त्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ-लाभ, भजनपूजन, भगवच्चिन्तन, प्रायश्चित, पुरश्चरण, वृद्धि, श्राद्ध, आद्य श्राद्ध, सपिण्डणश्राद्ध, पितृप्रेत कृत्य, पिण्डप्रदान, कपाल क्रिया, जलाञ्जलि, तिलांजलि, पितृपक्ष और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

हिन्दुओं के परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा विष्णु शिव, वरुण, कुबेर, जय-विजय नामक दोनो द्वारपाल, सूर्य्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, काली, कमला, शीतला, सरस्वती, महामाया इन्द्राणी शर्वाणी कल्याणी, देवदानवों, देवी देवताओं, नरीकिन्नरी अप्सराओं, गन्धर्वों, भूत प्रेत पिशाचों में ही नहीं मुसलमानों के पाकपरवरदिगार, अकबर हज़रत मुहम्मद, पीर पैग़म्बर, पाँच पीर, हसन हुसैन, मक्के मदीने, कलाम अल्लाह, जामा मसजिद, मोती मसजिद, मीना मसजिद, रोज़ारमज़ान, अलहम-दुलिल्लाह, शीया-

सुन्नी में; ईसाइयों के ईसामसीह, वाइविल, मरियम, देवदूत, प्रभात प्रार्थना में तथा बौद्धो के बुद्धदेव, शाक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, वौद्धविहार, दलाईलामा में, सिक्खों के नानक और गुरुगोविन्द में; जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ में, आर्य्यसमाजियों के स्वामी दयानन्द सरस्वती और सत्यार्थ प्रकाश में, ब्रह्म समाजियों के राजा राममोहन राय में और वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुम्भ मेले पर ओ० आर० आर० से हरद्वार जा हर की पैरी के पुल के पास जगज्जननी जान्हवी के शीतल जल से पाप ताप, त्रयताप प्रक्षालन करो. त्रिवेणी के तट पर माघ मेले में मुण्डन-करा मकर नहाओ, सूर्य्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में या मलमास में राजगिर जा स्नान-दान करो, संक्रान्ति के समय सागर-संगम या गंगासागर का सफर करो, कार्तिक की पूर्णिमा पर हरिहर क्षेत्र जाकर गण्डकी में गोते लगाओ, वैजनाथ जी में वं वं बोलो या काशी के कंकर शिवशङ्कर समान जानो, कोट कांगड़े की नयना देवी के दर्शन करो या मन चंगा तो कठौती में गगा के अनुसार शिक्षा दीक्षा ले घर पर ही अतिथि अभ्यागतों साधु संन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी व्यभिचारी विलासी वावू वनकर विषय वासना के वशीभूत हो बाग़ बग़ीचे की बारहदरी में चुपचाप संगी साथियों के साथ मिलजुल आमोद प्रमोद, ऐशो-इशरत. ऐसोनिशात करो, शराब कवाब और मांस मछलियाँ उड़ाओ, होटलों में बोतलों के बिलों का टोटल दे बंक पर चेक काटो या भाट भिखारियों दीन-दुखियों और लूले-लँगड़ों को कानी कौड़ी न दे महफिल में मुजरा सुन रंडी-भँड़वे और भाँड़ भगतिनों को इनाम एकराम दे सब स्वाहा कर डालो या शिखासूत्र परित्याग परमहंस वनो या वल्लभ कुलियों को "तन मन धन अर्पन" कर समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

६—कविता और शृङ्गार

[श्री पद्मसिंह शर्मा]

बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो क़िसी प्रकार करते हैं, पर शृङ्गार-रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार सा या तेज़ तेजाब सा खटकता है वह शृङ्गार की रसीली लता को विषैली समझ कर कविता-वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं। उनकी शुभ सम्मति में शृङ्गार ही सब अनर्थों की जड़ है। शृङ्गार-रस के 'अश्लील' काव्यों ने ही संसार में अनाचर और दुराचार का प्रचार किया है, शृङ्गार के साहित्य का संसार से यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय; फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे।

कई महानुभाव तो भारतवर्ष की इस 'वर्तमान अधोगति के 'श्रेय का सेहरा' भी शृङ्गार के सिर पर ही बाँधते हैं। उनकी समझ में शृङ्गार-रस ही की मूसलाधार अति-वृष्टि ने देश को डुबोकर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है। इस विचार के लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदांत के विचार—उपनिषदों में वर्णित अध्यात्म भावों के प्रचार—ने ही देश को अकर्मण्य, पुंसत्व-विहीन और जाति को हीन दीन बनाकर वर्तमान दशा में पहुँचाया है। फिर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियों की भी कुछ कमी नहीं है, वह इस शिक्षा को ही सब अनर्थों की जननी जान कर धिक्कार रहे हैं। यदि यह पिछले मत ठीक हैं, तो पहला भी ठीक हो सकता है। जब अन्तिम रस (शान्त) संसार की अशान्ति का कारण हो सकता है तो आदिम (शृङ्गार) भी अनर्थ का मूल सही। पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी अपनी जगह सब ठीक हैं—

"गुल हाय रँगा रंग से है जीनते चमन।
ऐ 'जौक़' इस जहाँ को है जेब इख्तलाफ से॥"

पदार्थ-वैचित्र्य के साथ रुचि-वैचित्र्य भी सदा से है और सदा रहेगा। यह विवाद कुछ आज का नहीं, बहुत पुराना है। पहले यहाँ शृङ्गार-रस-प्राधान्य वादियों का एक पक्ष था। उसका मत था कि शृङ्गार ही एक रस है, वीर अद्भुत आदि में रस की प्रसिद्धि गतानुगतिकता की अन्ध परम्परा से यों ही हो गई है। इस मत के समर्थन में सुप्रसिद्ध भोजदेव ने "शृङ्गार-प्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधर ने अपनी "एकावली" के रस प्रकरण में इस प्रकार किया है—

"राजा तु शृङ्गारमेकमेव" 'शृङ्गार प्रकाशे'
रस, मुररी चकार

× × ×

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था, जो शृङ्गार को एक दम अव्यवहार्य समझता था। वह केवल शृङ्गार का ही नहीं, शृङ्गार-वर्णन के कारण काव्य-रचना ही का विरोधी था। उसकी आज्ञा थी—असभ्य-अश्लील अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण काव्य का उपदेश काव्य-रचना, नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर में काव्य मीमांसा के आचार्य कवि कुल शेखर 'राजशेखर' कहते हैं कि क्रम प्राप्त ऐसे विषय विशेष का वर्णन अपरिहार्य है। वह होना ही चाहिये, वह काव्य का एक अंग है, प्रकरण में पड़ी बात कैसे छोड़ी जा सकती है? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करने के लिये विवश है। शृङ्गार की सामग्री तत्सम्बन्धी नाना प्रकार के दृश्य जब जगत् में प्रचुर परिमाण में सर्वत्र प्रस्तुत हैं तब कवि उनकी ओर से आँखें कैसे बन्द कर ले? तद्विषयक वर्णन क्यों न करें? फिर कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराध के अपराधी

हों, यह बात भी तो नहीं। राजशेखर कहते हैं कि जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो श्रुतियों में और शास्त्रों में भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियाँ और शास्त्र वचन उद्धृत करके राजशेखर ने अपने उक्त मत की पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनों के आगे कवियों के 'अश्लील' वर्णन भी लज्जा से मुँह छिपाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो कवियों पर असभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है। कवियों ने अश्लीलता को स्वयं दोष मानकर उससे बचे रहने का उपदेश दिया है। काव्य-दोषों में अश्लीलता एक मुख्य दोष माना गया है। फिर कवि अश्लीलता का उपदेश देने के लिये काव्य-रचना करें, यह कैसे माना जा सकता है ?

शृङ्गार-रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति भ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त विटों की गूढ़ लीलाओं के दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढग से कही है। रुचिभेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती, अधिकार भेद की व्यवस्था सब जगह समान है। काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षुपति और जीवन्मुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो

चीज इनके लिये अच्छी नहीं है वह औरों के लिये भी अच्छी न हो। इनकी रुचि को सब की रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है?

काव्यों के विषय की आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जब तक चटपटी भाषा का चटखारा सहृदय समाज से नहीं छूटता — जिसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है सहृदयता के साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यों का प्रचार रुक नहीं सकता। बड़े बड़े सुरुचि-संचारक और प्रचारकों और धार्मिक उपदेशकों तक को देखा गया है कि श्रोताओं पर अपनी वक्तृता का रंग जमाने के लिये उन्हें भी काव्यों की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियों का वीच बीच में सहारा लेना ही पड़ता है। अच्छी भाषा पढ़ने सुनने का लोगों का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकों के काव्य-विरोध विषयक प्रयत्नों को अधिकांश में निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यों के पढ़नेवाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते हैं। शृङ्गार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यों की ओर पाठकों को नहीं खींचती भाषा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नहीं होती!

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिये कि हमारे कवियों ने प्रकाश के देवता से अन्धकार का काम क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषय के वर्णन मे क्यों कर गये? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया। वह समय कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी, और अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विषयों का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई जानदार भाव-

मयी भाषा में वर्णन करके मुर्दादिलों में जान डाल जायँ, सोते हुओं को जगा जायं और जागतों को किसी काम में लगा जायँ। हमारी भाषा की बहार बीत गई, अब कभी ख़त्म न होने वाली 'ख़िज़ाँ' के दिन हैं। भाषा के रसिक भौंरे कान देकर सुनें और आँख खोलकर देखें, कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥"

जिस भावहीन निर्जीव भापा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है, उससे सुरुचि का संचार हो चुका! यह सहृदय समाज के हृदयो मे घर कर चुकी! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम चलाऊ-पन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का संचार होना अत्यावश्यक है। विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्व की दृष्टि से भी देखिये, तो शृङ्गार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से, जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है, सदा बहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता; मकरन्द के लिये मधु-मक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा। यदि वह इधर से मुँह मोड़ कर 'सुरुचि' के ख्याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न होगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है? परमात्मा इस 'सुरुचि' के साहित्य की रक्षा करे—

"घर से वैर अपर से नाता। ऐसी बहू मत देहु विधाता॥"

बिहारी की कविता शृङ्गारमयी कविता है, यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है। रस रंग में भी बिहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिणाम में थोड़ा होने पर भी भाव-गाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सब से बढ़ा-चढ़ा है; ऐसे वर्णनों को पढ़ सुनकर बड़े-बड़े नीति-धुरन्धर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गये हैं। फिर भी बिहारी की सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार ही है। उसमें दूसरे रसों की चाशनी 'मज़ा मुँह का वदलने के लिये" है। जिस प्रकार संस्कृत काव्य 'अमरुशतक' और 'शृङ्गारतिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारों ने भक्ति और वैराग्य की तिलक-छाप लगा कर उन्हें अपने मत की दीक्षा दे डाली है, इसी प्रकार किसी-किसी प्रखरबुद्धि टीकाकार ने बिहारी की सतसई पर भी अपना रंग जमाने की चेष्टा की है। किसी ने उसमें से वैद्यक के नुसखे निकालने का प्रयत्न किया है, किसी ने गहरे अध्यात्म भावों की उद्भावना की है। अस्तु बिहारी-सतसई जैसी कुछ है, सहृदय कविता-मर्मज्ञों के सामने है! वह न आध्यात्मिक भावों के रूप में परिणत हो सकती है, न सामयिकता के साँचे में ही ढाली जा सकती है। वह तो शृङ्गार-मूर्तिमती ही मानी जायगी। तथापि उसकी चमत्कृति और मनोहरता में कमी नहीं हुई। इसका प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी; पर वर्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है; पहले पुराने ख्याल के 'खूसट' उस पर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फ़िदा हैं। उसके तीव्र तथा स्थायी आकर्षण का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय समय पर अनेक कवि विद्वानों ने उस पर पद्य में, गद्य में संस्कृत और हिन्दी में टीका तिलक किये, पर वह अभी वैसी ही बनी है। उसके जौहर पूरी तरह खुलने मे नहीं आते, गहराई की थाह नहीं मिलती। पहेली

टीकाओं से पाठकों को तृप्ति न हुई, नई-नई टीकायें बनीं; फिर भी चाट बनी है कि और बनें। सतसई और उसके टीकाकारों को लक्ष्य में रखकर ही मानों कवि ने पर्याय से यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबहिं गहि गहि गरब-गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्य भरित भाव-सौन्दर्य का यथार्थ तथ्य अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका, सब खाली खाके खींचकर ही रह गये।

इससे बढ़ कर शृङ्गार की महिमा क्या होगी? पाठक स्वयं विचार कर देख ले।

१०—उद्योग और सफलता

[श्री चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा]

"दुःख के पीछे सुख मिलता है" यह नियम अटल है। जान पड़ता है कि सारी सृष्टि इसी नियम से बनी होगी; क्योंकि जब हम किसी मनुष्य के किसी काम को ध्यान से देखते हैं तब जान पड़ता है कि कर्त्ता को कार्य-रूपी फल पाने के लिए उद्योग रूपी कोई दुःख अवश्य ही भुगतना पड़ा है। यह बात नहीं है कि यह नियम मनुष्य के कामों ही में लगता है वरन् प्राकृतिक कामों में भी यह हमको भली भाँति मिलता है। कई लोगों ने कई तालाब, बावड़ी आदिक जलाशयों में पानी का चोर देखा होगा। किसी-किसी जलाशय का पानी देखते-देखते अथवा थोड़े ही दिनों में सूख जाता है। हम नहीं जान सकते हैं कि यह क्यों इतना शीघ्र सूख गया! पर सच्ची बात यह है कि यह पानी किसी भीतर के छेद में होकर निकटस्थ अथवा दूरस्थ जलाशय में पहुँच जाता

है। इसी छेद को "पानी का चोर" कहते हैं। कभी-कभी यह पानी सौ सौ कोस दूर के जलाशय में पहुँच जाता है। यही नियम अब यहाँ घटाया जाता है। अब देखिये कि पानी कोई तीक्ष्ण शस्त्र तो है ही नहीं कि वह तुरन्त पृथ्वी को फोड़ कर सौ कोस दूर पहुँच जावे। नहीं, इस प्राकृतिक पदार्थ (पानी) को भी सौ कोस पार होने के लिए पहले कई महीनों या बरसों तक उद्योग रूपी दुःख भोगना पड़ता है। तब कहीं उसका मार्ग अविरुद्ध होता है। यह भी भली भाँति जाँची हुई बात है कि दुःख के पीछे सुख है अर्थात् उद्योग करने के पीछे चाही हुई वस्तु मिलती ही है। यह हम जो बहुत कुछ सिर पीटते हैं तो भी हमारा मतलब क्यों नहीं बनता? नहीं नहीं, यह उलहना उद्योग को नहीं देना चाहिये, वरन् अपने को देना चाहिये; क्योंकि हमको जैसा चाहिए वैसा हम उद्योग ही नहीं करते हैं। अब हमको यही दिखाना है कि हमारे उद्योग का ढङ्ग कैसा होता है और कैसा होना चाहिए और यही इस निबन्ध का आधार है। हम लोगों मे पहली भूल यह होती है कि हम "तेते पाँय पसारिये जेती लाँबी सौर" इस वाक्य के विरुद्ध काम करने लग जाते हैं। अर्थात् अपने बित्त भर काम में लगने के बाद हम ऐसे-ऐसे कामो में हाथ डाल देते हैं जिनका पूरा होना तो दूर रहा, उलटा उनसे अपने को सुलझा देना भी टेढ़ी खीर है। कठिन काम के प्रारम्भ को सीधा जानकर हम उसको तुच्छ समझ लेते हैं। पर आगे चलने पर जान पड़ता है कि यह तो हमसे नहीं हो सकेगा। फिर हमको हारकर वह अधूरा ही छोड़ना पड़ता है जिससे हमारा उतना अमूल्य समय व्यर्थ ही जाता है। नहीं, वरन् कई काम ऐसे होते हैं जिनको हार कर अधूरा छोड़ने से समय ही नहीं बिगड़ता है, वरन् कई, विपत्तियाँ भी आ गिरती हैं। जैसे किसी मनुष्य ने सँकरी ठौर में विषैले काले साँप को मारना चाहा और उसके एक छड़ी की चोट दे डाली; पर उसको पीछे जान पड़ा कि साँप बलवान् और ठौर छोटा है। यह तो मुझसे नहीं मारा

जा सकता है। यह विचार कर वह डर गया, पर अब वैसे मनुष्य का कुशल नहीं है। क्योंकि घायल साँप मौत के बराबर होता है। प्रथम तो उस मनुष्य को सँकरी ठौर में साँप से छेड़-छाड़ करना नहीं चाहिए थी और जो की थी तो फिर उसे परमधाम का मार्ग ही बताना चाहिए था। ऐसे काम को दुस्साहस कहते हैं। इसी दुस्साहस का एक और उदाहरण है। एक समय गाय भैंसों के बाड़े में एक सिंह आ कूदा। भैंस को उछाल फेंकना दाल-भात नहीं होता है। पर उसने एक बड़ी सी भैंस को बाड़े से बाहर फेंकने का दुस्साहस कर डाला। दैवयोग से उस भैंस के सींगों में दूसरी भैंस के सींग फँस गये जिससे पहली के साथ दूसरी भी बाहर गिर गई। प्रातःकाल ग्वाले ने बाड़े में सिंह को मरा देखा। कारण यह था कि उसने अपने दुस्साहस के आगे यह नहीं देखा कि भैंस दो हैं। बस फिर क्या था ? सिंह में बल तो अद्भुत होता ही है. इससे भैंस तो बाहर गिर गई, पर बोझ के मारे उसके हृदय के किवाड़ भी खुल गये जिस से लोहू रूपी स्वर्गानुराग उगलता हुआ वह परलोक को चल दिया।

इन बातों से यह तत्व निकलता है कि जो हमको कठिन काम ही करना हो तो पहले उसके योग्य हो जाना चाहिए। अब यदि कोई कहे कि तुम्हारा कहना तो उस अनाड़ी का-सा है जो कहता था कि जब तक मै तैरना भली भाँति नहीं सीख लूँगा तब तक पानी में पैर भी न डालूँगा; तो हमारा यही उत्तर है कि यद्यपि पानी में पैर दिये बिना तैरने की योग्यता नहीं आ सकती है तथापि यह भी तो निरा अनाड़ीपन है कि तैरने का अभ्यास किये बिना ही हाथी डुब्बा पानी में कूद पड़े।

नाटक में मुख्य गुण यह है कि दर्शकों में यह भाव बनाये रखे कि देखें आगे क्या होता है; पर जिसने सपने में भी नाटक-रचना शैली नहीं सीखी, वह यदि विद्वानों की देखा देखी, उत्साह के मारे नाटक बनाने लगे तो क्या उसके नाटक में वह गुण आ

सकता है? कदापि नहीं। वह पहले अङ्क में तो, आगे जो जो काम पात्र करेंगे, उनका भण्डाफोड़ करेगा और आगे के अङ्क में उन कामों को करेगा, जिसमें नाटक का सारा रस फीका पड़ जाय और दर्शकों को भी मीठी नींद खाने के सिवाय और कोई लाभ न होगा। इसलिए इस उदाहरण से हमारा यह अभिप्राय है कि जैसे नाटक बनाने से पहले नाटक रचना शैली सीखनी चाहिए वैसे ही किसी कार्य में हाथ डालने के पहले तत्सम्बन्धिनी योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए। अयोग्य मनुष्य से कोई काम नहीं बनता, यही बात नहीं है किन्तु थोड़ा बहुत काम बना भी, तो भी वह बिगड़ जाता है। सो भी ऐसा कि दूसरा मनुष्य भी फिर उसे नहीं सुधार सकता।

हमारे उद्योग के सफल न होने का दूसरा कारण यह है कि किसी-किसी काम के आरम्भ में लोग अत्यन्त उत्साह दिखलाते हैं। क्योंकि काम को करने का उत्साह और प्रण ये दोनों मन के धर्म हैं। इनमें यदि एक प्रबल हुआ, तो दूसरा निर्बल पड़ जाता है। इसलिए जब उत्साह अमर्याद हो जाता है; तब प्रण निर्बल पड़ जाता है। अमर्याद वस्तु कभी नहीं ठहर सकती है। इसलिए प्रण तो निर्बल है ही, उधर थोड़े ही दिनों में उत्साह की भी इतिश्री हो जाती है। तब उस काम के बेली राम ही रह जाते हैं। सदा से देखा गया है कि बरसनेवाले बादल अर्थात् किसी काम में सफल होने वाले लोग वे ही होते हैं जो गरजते नहीं हैं। अर्थात् जिनका उत्साह मर्यादा को नहीं लाँघता है। यहीं नहीं, किन्तु जो लोग उत्साह दिखाते हैं, वे जब सफल नहीं होते हैं, तब वे लोगों को अपना मुँह दिखाने में भी लजाते हैं। और जब एक बार उनका अनुचित उत्साह भङ्ग है तब आगे उनको किसी काम में उचित उत्साह भी नहीं होता है। यद्यपि उनको उत्साहित होना चाहिये, तथापि वह उत्साह बाहर नहीं निकलना चाहिये। यह कहा जाता है कि किसी मनुष्य से यदि कोई पाप बन गया हो तो वह उसे

ठौर ठौर लोगों से कहता फिरे जिससे पाप का बहुत कुछ प्रायश्चित हो जाता है। जब दिखावे से पाप भी घट जाता है तब उत्साह क्यों न घटना चाहिए। इसी लिए हमको चुपचाप उत्साह से काम में लगे रहना चाहिये।

हमारे उद्योग के न फलने का तीसरा कारण यह है कि हम शीघ्र ही अपने उद्योग का फल देखना चाहते हैं। अपने विचार से हमको यही जान पड़ता है कि इसका कारण हमारे शरीर की निर्बलता है। क्योंकि समय के फेर से दृढ़ निर्बल होते रहते हैं और इतिहासों से यह भी जाना जाता है कि जब तक लोगों के शरीर दृढ़ रहते हैं तभी तक अचम्भे में डालने वाले उनसे काम होते हैं। दृढ़ पुरुषो के समय में दुबला पुरुप भी अद्भुत काम कर सकता है। क्योंकि उसके दुबलपन का कारण विशेष जन्य होता है। परन्तु निर्बल लोगों के समय मे वैसे काम बहुत कम होते है, क्योकि शरीर की निर्बलता के कारण उनका मन भी इतना निर्बल होता है कि वे श्रम करने का साहस भी नहीं कर सकते। यदि करें भी तो थोड़े ही दिनों के पीछे सिर हाथ रख कर कहते हैं कि हाय ! अब तक कुछ भी तो फल न हुआ। अब इसको छोड़ ही दो। लोग यह समझ बैठते हैं कि उद्योग का फल छोटी-सी चीज़ है। वह अब तक क्यों नही हुआ ? पर यह निरी भूल है। उद्योग का फल बड़ी कठिन वस्तु है। यह नई सृष्टि-रचना है। गेहूँ के पहले दाने होते हैं। उनको पीसना पड़ता है, फिर उनको छान कर आटा बनाया जाता है। फिर वह उसना जाता है, फिर उसको बेलन से बेलते हैं। फिर उसे तवे पर सेकते हैं। अन्त में जब रोटी तैय्यार-हो ज़ाती है तब वह घी से चुपड़ी जाती है। तब कहीं जाकर पेट में रखने योग्य वह होती है। अब देखिये कि क्या यह नई सृष्टि नहीं हुई ? उसका पहला स्वरूप दाना था, पीछे वह फुलका हुआ। यह क्यों ? औषध का गुण तो प्रत्यक्ष होता है, पर वह भी पेट में जाते ही अपना गुण नहीं बतला देती है। फिर उद्योग जिसका

फल परोक्ष है- कैसे शीघ्र फलीभूत हो सकता है? तभी तो हमारे पूज्य नीतिज्ञों ने उद्योगी को पुरुषसिंह इसलिये कहा है कि उद्योग करते-करते उसका धैर्य अपनी ठौर नहीं छोड़ता है।

हम पहले कह आये हैं कि शरीर की निर्बलता के साथ होने वाली मन की निर्बलता के कारण हम अपने उद्योग का फल शीघ्र देखना चाहते हैं, पर सच पूछिये तो निर्बलता का कारण आलस है। क्योंकि आलस से भोग-विलासादिकों में रुचि होती है। इसी से शरीर निर्बल होता है। अथवा यों कहिये कि आलस का दूसरा स्वरूप भोग-विलासादिकों में रुचि है। इस लिए आलस को सब से पहले धता बताना चाहिये। क्योकि यह मनुष्य का मित्रमुख शत्रु है।

हमारे उद्योग के फलीभूत न होने का चौथा कारण यह है कि हम एक साथ बहुत से कामो को हाथ में ले लेते हैं। जो भूल अपने से दुष्कर काम में लगने से होती है वह इसमें भी होती है। पाँच कामों को एक साथ करने में, चाहे अलग अलग एक के पीछे एक को करने से थोड़ी देर लगती हो, पर वे काम भी तो वैसा करने से बिगड़ जाते हैं, जैसे कोई पंडित शृङ्गार, वीर और करुण रसों पर भिन्न भिन्न ग्रन्थ बनाने लगा। यदि वह प्रत्येक ग्रन्थ का कुछ अंश प्रति दिन बनावेगा, तो उसके ग्रन्थों में जैसी चाहिये वैसी उत्तमता से किसी रस का परिपोष नहीं हो सकेगा, क्योंकि मनुष्य की रुचि कुछ समय तक ही रहती है। इसलिए जब तक ग्रन्थ कर्त्ता को शृङ्गार रस में रुचि होगी; तब तक क्या वीर, क्या करुण रस भली भाँति नहीं आ सकेगा। ऐसे ही जब तक उसकी रुचि करुण रस में रहेगी, तब तक क्या उसका मन मारकाट में लगेगा और एक विषय में लगने से जो जो बातें उपजती हैं वे तीन विषयों में लगने से कभी नहीं उपज सकती हैं। हाँ जिन दिनों में उसकी रुचि जिस रस में होगी, उन दिनों में वह उसी रस का वर्णन करेगा। तब उसका ग्रन्थ उत्तम ही बनेगा।

यद्यपि छोटे-छोटे काम भिन्न-भिन्न होने पर भी एक साथ कई हो सकते हैं, तथापि बड़े-बड़े कामों में ऊपर लिखा हुआ नियम ही लगता है। यद्यपि ईश्वर की कृपा से कई एक मनुष्य ऐसे भी हो गये हैं और हैं जो कई एक बड़े-बड़े कामों को एक साथ ही कर लेते हैं, तथापि यह पूरे सिद्ध-हस्तों का ही काम है। जैसे हमारे प्रातःस्मरणीय शङ्कराचार्य, वाचस्पति मिश्रादिकों ने बीसों ग्रन्थ-रत्न बनाये हैं, जिससे जान पड़ता है कि उन्होंने कई एक ग्रन्थों को एक साथ ही बनाया होगा। पर क्या वे ऐसे वैसे सिद्धहस्त थे?

हमारे उद्योग के सफल न होने का पाँचवाँ कारण यह है कि हम अपने इष्ट फल के अनुसार उद्योग नहीं करते हैं। अर्थात् इष्टफल-प्राप्ति के लिए जितना उद्योग होना चाहिये उतना नहीं करते हैं। यहाँ एक छोटा सा उदाहरण दिया जाता है। जैसे हमको दस दिन में पचास पृष्ठ की एक पोथी को कंठ करके सुनाना है, तो उसके पाँच-पाँच पृष्ठ नित्य कण्ठ करने से काम नहीं चल सकता है। क्योंकि हमको उस पोथी के इतने पृष्ठ नित्य कण्ठ करने चाहिए, कि एक बार सारी पोथी को कण्ठ कर लेने के पीछे इतना समय हमें और मिले कि हम समस्त पोथी को एक दो बार दुहरा सकें। हम यही समझ बैठते हैं कि हमारा उद्योग पूरा है और इसी भूल में पड़कर हम उतने ही उद्योग पर संतोष कर लिया करते हैं जिससे अवधि पूरी हो जाती है और काम अधूरा ही रह जाता है।

हमारे उद्योग के सफल न होने का छठवाँ कारण यह है कि हम जिस काम में हाथ डालते हैं; उसको हृदय से नहीं चाहते। केवल लोक रीति मान कर उसको किया करते हैं जैसे कोई पंडित देशाटन कर रहा है और किसी देश में उसके मित्र ने कहा— "पंडित जी महाराज! आपका धर्मोपदेश यहाँ हो जाय तो क्या अच्छा हो?" पंडित जी उत्तर देते हैं—"विचार तो हमारा आगे जाने का था पर आप लोग कहते हैं तो वैसा ही किया जायगा।"

कहिये क्या इन पंडित जी के धर्मोपदेश से लोगों में धर्म की रुचि बढ़ेगी ? चाहे वे उपदेश देते देते बकवृत्ति धारण कर लें वा रोने ही क्यों न लग जाँय, पर श्रोताओं की धर्म में कुछ भी रुचि नहीं हो सकती है अथवा हो भी तो मण्डप के बाहर निकलते ही तुम तुम्हारे और हम हमारे—मानो उपदेश दिवा-स्वप्न था। इसका कारण यही है कि पंडित जी का मन तो दूसरे देश में है। फिर उनका दिया उपदेश क्या धूल रुचि बढ़ावे ? चित्त से चाहने वाले मनुष्य के शब्द ही कुछ और होते हैं।

एक दुखिया भक्त सच्चे मन से स्तुति कर रहा है और एक कवि अपने ग्रन्थ में आये हुये नायक की भगवद् स्तुति का वर्णन कर रहा है—क्या इन दोनों स्तुतियों में भेद नहीं होगा ? सच्चे भक्त की स्तुति में प्रत्येक मनुष्य के कण्ठावरोध आदिक भक्ति के लक्षण होवेंगे। पर कवि की स्तुति को लोग केवल यह कह कर ही सराहेंगे कि क्या अच्छी कविता है। जिस काम को किया उसको जी से चाहा, इस गुण वाले बुद्धदेव और शङ्कराचार्य थे। पहले ने अपना मत फैलाने के लिए राज्याधिकार, राजप्रासाद सुन्दरी स्त्री और शिशु बालक धन और समस्त सुखों की तिलाञ्जलि दे दी और चित्त से चाह कर ऐसा उद्योग किया कि आज उनके मत को सारी मनुष्य जाति का चौथा भाग मानता है। दूसरे ने बत्तीस वर्ष ही की अवस्था पाने पर पहले पुरुषसिंह के मत को भारत से उखाड़ कर नास्तिक देश को आस्तिक कर दिया। बड़े अचम्भे की बात तो यह है कि जिस बौद्ध धर्म का अन्यान्य बाहर के देशों में उदय हुआ, उसकी जन्मभूमि भारत में उसका चिह्न भी नहीं रहने दिया। फिर ऐसा पुरुषसिंह क्यो न भगवान् कहलाने के योग्य हो ? धन्य है इस पुरुषसिंह को जिसके ऋण से भारत कभी उऋण नहीं हो सकता। इन दोनों महात्माओं के इतने बड़े भारी उद्योग के सफल होने का कारण केवल यही था कि इन्होंने जिस काम को किया उसको जी से चाहा। कभी-कभी यह भी होता है

कि मनुष्य को पूरा उद्योग होने पर भी सफलता नहीं होती है। जैसे पुरु राजा की सिकन्दर से, लाहौर के राजा अनङ्गपाल की महमूद गजनवी से, दिल्ली पति महाराज पृथ्वीराज की मोहम्मद गोरी से, राना साँगा की बाबर से, मरहट्ठों की अहमद शाह अब्दाली से लड़ाई। इन लड़ाइयों में हिन्दुओं का उद्योग इतना पूरा था कि ईश्वर यदि कुछ भी अनुकूल होता तो शत्रु पक्ष नष्ट हो जाता। पर घर की फूट और ईश्वर के कोप आदि विघ्नों ने उद्योग को फलने न दिया। ऐसी दशा में मनुष्य का कुछ भी वश नहीं है। यहाँ "यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषाः" ही पर सन्तोष करना चाहिये। ऐसी दशा में सफल न होने वाले पुरुष सिंहों के प्रति हम लोगों की भक्ति रहती है और विघ्न करने वाले नीचों के प्रति हमारे चित्त में घृणा उत्पन्न होती है।

इस लेख का सारांश यह है कि हम सब भाँति योग्य हों और आलस छोड़ और चित्त मन देकर चुपचाप उत्साह और पूरे उद्योग से अपने वित्त भर काम में लगे, जिससे जय लक्ष्मी हमारे ही आगे नाचा करे।

११—भरत

[श्री राधाकृष्ण मिश्र]

भरत, अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र और श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई थे। भरत के विषय में एक बार महाराज दशरथ ने अपनी महिषी कैकेयी से कहा था—'मैं उसे (भरत को) धर्मतः रामचन्द्र से भी बढकर बलवान् मानता हूँ*।" दशरथ भरत के चरित्र को भली भाँति जानते थे तो भी रामचन्द्रजी के वन में चले जाने पर उन्होंने उन्हें त्याज्य पुत्र और अपने और्द्ध्वदेहिक कृत्य

---

* रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।

के लिये अयोग्य कह दिया। रामायण जैसे लोकोत्तर महाकाव्य के एकमात्र निर्दोष एवं आदर्श चरित्र भरत के भाग्य में कैसी विडम्बना हुई—इसका विचार करने से हमें बहुत दुःख होता है। निर्दोष होने पर भी उनके पिता ने उनका त्याग किया—यहाँ तक कि उनको बुलाने के लिये जो दूत केकय राज्य में भेजे गये थे, उन्होंने भी अयोध्या के कुशलसम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में क्रूर कटाक्ष के साथ कहा था—"आप जिनकी कुशल चाहते हैं, उनकी कुशल है*।" अर्थात् भरत मानो दशरथ, राम लक्ष्मण आदि की कुशल नहीं चाहते—वे केवल कैकेयी और मन्थरा ही की कुशल चाहते हैं। या तो यह बात दूतों ने मिथ्या कही या यह उनका निष्ठुर व्यङ्ग वाक्य था। इसके सिवाय दूतों के इस वाक्य का और कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। राम-वनवास के उपलक्ष में अयोध्या में जो वाग्वितण्डा हुआ था, उसमें भी एक दो बार इस निर्दोष राजकुमार पर अन्यायपूर्वक कटाक्ष किये गये थे। रामचन्द्रजी के वनवास के समय, अयोध्या की प्रजा ने कहा था—"हम भरत के निकट उसी तरह बँध गये, जिस तरह पशु हिंसक के पास†।" इतना ही नहीं बल्कि इस साधु व्यक्ति को अपने विशेष स्वजनों से भी लाञ्छित होना पड़ा था। जो रामचन्द्र भरत को अपने 'प्राणों से भी बढ़कर‡' प्रिय समझते थे और जिन्होंने कौशल्या से कहा था—'धर्मप्राण भरत की बात मन में विचारकर तुमको अयोध्या में रखकर जाने में मुझे किसी तरह की चिन्ता नहीं है"—देखिये, उन्हीं राम से यह न हुआ कि महात्मा भरत पर सन्देह के एक दो बाण न छोड़ते। सीताजी को समझाते हुए राम ने कहा था—"तुम भरत के आगे मेरी प्रशंसा मत करना। समृद्धि वाले लोगों

---

* कुशलस्ते महाबाहो येषां कुशलमिच्छति।

† भरते सन्निबद्धाः स्म सौनिके पशवो यथा।

‡ "मम प्राणैः प्रियतरः।"

को दूसरों की प्रशंसा अच्छी नहीं लगती।" इस सन्देह का समाधान नहीं है।

पिता दशरथ ने रामाभिषेक के उद्योग के समय भरत को सन्देह की आँखों से देखा था। रामचन्द्र को बुलाकर उन्होंने कहा था—'मेरी यह इच्छा है कि भरत के ननिहाल में रहते-रहते ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, क्योंकि यद्यपि भरत धार्मिक और तुम्हारा अनुगत है तो भी मनुष्य का मन बिगड़ते देर ही कितनी लगती है?" इक्ष्वाकुवंश की सनातन प्रथा के अनुसार सिंहासन बड़े भाई ही को मिल सकता था; फिर भी धर्मधुरन्धर भरत के ऊपर ऐसा सन्देह करना घोर अन्याय था। रामचन्द्र ने भरत के चरित्र का इतना महत्व समझा तो भी वनवास के अन्त में जब भरद्वाजाश्रम से हनुमान् को वे भेजने लगे तब उन्हें यह कहकर भेजा—"हमारे आने का संवाद सुनकर भरत के चेहरे का कुछ रंग बदला कि नहीं—यह अच्छी तरह से देखना।" यह सन्देह भी बिल्कुल अमार्जनीय है। संसार में निरपराधियों को अनेक बार दण्ड मिला है किन्तु भरत जैसे आदर्श धार्मिक के प्रति इस प्रकार के दण्ड के दृष्टान्त इतिहास में बिरले ही हैं। लक्ष्मण ने जिस भरत के लिये बारम्बार यह कहा था—'हे राम! भरत के मारने में मै कुछ भी दोष नहीं समझता।*" उसी भरत ने अश्रु-रुद्ध कंठ से लक्ष्मण के विषय में कहा था—'लक्ष्मण धन्य है, जो रामचन्द्र के कमल लोचनवाले चन्द्रोपम निर्मल मुख को देखता है।†" राजाधिराजा महाराज दशरथ की प्रजा के लोगों के मन

---

* भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव!

† सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युतिम्।

और भी

अहह धन्य लक्ष्मण बड़भागी। राम पदारविन्द अनुरागी॥

बिगड़ने का अवश्य ही कुछ कारण हो सकता है, क्योंकि वे लोग सोच सकते थे कि इतना बड़ा षड्यंत्र रचा गया—क्या इसमें भरत का कुछ भी हाथ न था? अपने मामा युधाजित के साथ परामर्श कर भरत ही ने दूर से डोर हिलाकर कैकेयी नहीं नचायी—इसका क्या प्रमाण था? भरत को स्वयं इसकी आशङ्का हुई थी और इसी आशङ्का के निराकरण के लिये, उन्होंने विसंज्ञ-अवस्था में कैकेयी से कहा था—"जब अयोध्या के लोग रुद्धकण्ठ हो, नेत्र भरकर मेरी ओर देखेंगे; तब मैं उसे सहन न कर सकूँगा।"

कौशल्या भरत को बुलाकर कटु वाक्य कहने लगीं। घाव में सुई चुभोने से जैसा कष्ट होता है, कौशल्या के तीव्र वचनो ने भरत के हृदय में वैसी ही वेदना उत्पन्न की। घटनाचक्र में पड़कर वह देवतुल्य चरित्र संसार के सब लोगों के सन्देह का पात्र होकर लाञ्छित हुआ था। जब भरत बड़ी सेना के सहित रामचन्द्र जी को लौटाने के लिये अग्रसर हुए तब निषादाधिपति गुहक ने इन्हें उनकी अनिष्ट कामना से पीछे दौड़नेवाला शत्रु समझा और वह हाथ में लट्ठ लेकर तथा मार्ग रोककर डट गया था। भरत की लाञ्छना की यहीं इतिश्री नहीं हुई; किन्तु भरद्वाज जैसे त्रिकालदर्शी तपोधन महर्षि ने भी इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखकर पूछा था—"आप उस निष्पाप-राजपुत्र के पीछे किसी बुरे अभिप्राय से तो नहीं जाते?" प्रत्येक पुरुष का समाधान करते करते भरत के प्राण होठों पर आ गये थे। भरत ने कैकेयी को "माता रूप में शत्रु*" कहकर पुकारा था। वास्तव में कैकेयी माता के रूप में भरत की महाशत्रु हो गयी थी। विश्व भर में ये जो सन्देहवाणों की वर्षा भरत पर हो रही थी, इसका मूल कैकेयी ही थी।

किन्तु घटनावली चाहे कितनी जटिल क्यों न हो, मनस्वी भरत के अपूर्व भ्रातृस्नेह ने अन्त को समस्त जटिलता दूर कर दी

---

* "मातृरूपे ममामित्रे"

थी। रामचन्द्रजी को हमने अनेक अवस्थाओं में वनवास में सुखी होते देखा है। उदाहरण के लिये चित्रकूट-वास ही के समय को ले लीजिये। फुलवारी के समान चित्रकूट की तराई को दिखाकर रामचन्द्र जी ने सीताजी से कहा था—"इस स्थान में तुम्हारे साथ विचरण कर मैं अयोध्या के राजसिंहासन को तुच्छ समझता हूँ।" इसी प्रकार और भी उदाहरण हैं। तात्पर्य यह कि राम का आकाश कभी मेघाच्छन्न और कभी स्वच्छ निर्मल दीख पड़ता है, किन्तु भरत का चिरविषण्ण चित्र मर्मान्तिक करुणा से भरा हुआ है। यहाँ तक कि भरत जब राम को लौटाने गये तब भरत की जटिल, कृश, विवर्ण मूर्त्ति देखकर रामचन्द्र चौंक पड़े थे और बड़ी कठिनता से उन्होंने भरत को पहचान पाया था।

कविगुरु वाल्मीकि भरत का चित्र दिखाने को सबसे पहले जब यवनिका उठाते हैं, तब भी हम उनकी मूर्त्ति उदासी से भरी पाते हैं। भरत खोटा स्वप्न देखकर, सबेरा होने पर उठकर बैठे हैं, उनको प्रसन्न करने के लिये सामने नर्तकी नाच रही हैं। मित्र लोग व्यग्र हो कुशल पूछ रहे हैं; भरत का मुख उदास और शोभाहीन हो रहा है। अयोध्या की विषम विपद के पूर्वाभास ने मानो उनके मन पर अधिकार जमा लिया है। वे किसी प्रकार स्वस्थ नहीं हो सकते। इतने में उन्हें लेने के लिए अयोध्या से दूत आये। भरत ने उनसे व्यग्र हो प्रत्येक की कुशल पूछी। दूतों ने द्व्यर्थव्यञ्जक उत्तर देते हुए कहा—"आप जिनकी कुशल चाहते हैं. उनकी कुशल है।" किन्तु पिछली रात का दुःस्वप्न और दूतों की व्यग्रता भरी बातें उनके लिये एक विषम समस्या हो गयी। इन दोनों घटनाओं को एक दुश्चिन्ता के सूत्र में गूँथकर वे बहुत ही उदास हो गये।

अन्त में अनेक देश, नदनदी, वन, पहाड़ों को नाँघकर, भरत ने दूर से अयोध्या के वृक्षों की श्यामता देखी और आतङ्कित कंठ से सारथी से पूछा—"यह तो अयोध्या सी नहीं दिखलाई देती।

नगरी में पहले जैसा तुमुल शब्द क्यों नहीं सुन पड़ता ? वेदपाठ-निरत ब्राह्मणों की कंठध्वनि और काम-काज में लगे हुए नरनारियो के विपुल कोलाहल शब्द बिल्कुल नहीं होते। जिन आनन्द-बाटिकाओं में रमणी और पुरुप एक साथ विचरा करते थे, आज उनमें कोई नहीं है। राजमार्ग चन्दन और छिड़काव से क्यो परिष्कृत नहीं हुए ? रथ, घोड़े और हाथी सड़कों पर क्यो नहीं आते जाते ? खुले हुए किवाड़ और श्रीहीन राजपुरी मानो व्यङ्ग करती है कि यह तो अयोध्या नहीं मानो अयोध्या का वन है।

वास्तव में उस समय अयोध्या की श्री अन्तर्हित हो गयी थी। अयोध्या के सौभाग्य का भाण्डार लुट गया था। त्रिलोक विश्रुत कीर्त्ति महाराज दशरथ ने पुत्रशोक से प्राण त्याग दिये थे। अभिषेक-मञ्च पर बैठनेवाले ज्येष्ठ राजकुमार विधाता के शाप से भिखारियों के वेष से वन में जा चुके थे। आभूपण और सखियों को छोड़कर, अयोध्या की राजवधू भिखारिनो की तरह स्वामि-सङ्गिनी हो चुकी थी। जिसके लम्बे और पुष्ट वाहु, सब प्रकार के आभूषण धारण करने योग्य थे, वह "सुवर्णच्छवि" लक्ष्मण, भाई और भावज के पदचिह्नों का अनुसरण कर चुका था। सब दूकानें बन्द थीं। सुमंत्र ने बहुत ठीक कहा था—"समस्त अयोध्या नगरी मानो पुत्रहीन कौशल्या की दशा को प्राप्त हो रही है।"

भरत को इन बातों का हाल तिल भर भी अवगत नहीं है। वे मौन प्रतिहारियों का प्रणाम ग्रहण कर, चाव में भरे. पिता के कमरे में गये, पर वहाँ उनको न पाया। तब यह विचार कर कि पिताजी माता कैकेयी के घर में बहुत रहते हैं—वे उनको ढूँढ़ते माता के घर में गये।

सद्योविधवा कैकेयी आनन्द से फूल रही थी। पतिघातिनी पुत्र के भावी अभिषेक-व्यापार के आनन्द का चित्र अंकितकर प्रसन्न हो रही थी। भरत को देखकर वह और भी अधिक प्रसन्न हुई और भरत द्वारा महाराज दशरथ की बात पूछने पर उसने

कहा—"सब जीवों की जो गति है, वही गति तुम्हारे पिता की हुई है।*" यह सुनते ही कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष की तरह भरत भूमि पर गिर पड़े और कहने लगे—"अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ का सुख स्पर्श कहाँ पाऊँगा ?†" भरत को बिना महाराज के राज-शय्या चन्द्रहीन आकाश की तरह जान पड़ी। उन्होंने माता कैकेयी से पूछा—"राम कहाँ हैं ? जो अब पिता के अभाव में मेरे पिता हैं—जो मेरे बन्धु हैं—मैं जिनका दास हूँ—उन्हीं रामचन्द्र को देखने के लिये मैं विकल हूँ।" राम, लक्ष्मण और सीता निर्वासित किये गये हैं—यह सुन, कुछ क्षणों तक भरत स्तम्भित रहे। भाई के चरित्र में शंका कर वे बोले—"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन चुराया था ? क्या उन्होंने दुःखियों को सताया था ? या वे पराई स्त्री में आसक्त हुए थे ? यदि नहीं तो यह निर्वासन दण्ड उन्हें क्यों दिया गया ?" इस पर कैकेयी ने कहा—"राम ने इन अपराधों में से कोई भी अपराध नहीं किया।" बल्कि तीसरे, प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—"रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँख उठाकर भी नही देखते।‡" अन्त में भरत की उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयी ने जो सारे कांड रचे थे—सो सब सुनाकर कैकेयी पुत्र का अनुराग उत्पादन की प्रतीक्षा से अपने पुत्र का मुख देखने लगी।

गहरे मेघमण्डल ने मानो आकाश को छा लिया। धर्मप्राण, विश्वस्त भ्राता इस दुःसह संवाद का मर्म क्षणकाल तक नहीं समझ सके। उन्होंने माता की जो भर्त्सना की, उसे उसकी महा-दुर्गति का स्मरणकर हम सब प्रकार समयोपयोगी समझते हैं। 'तुम धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं—उनके वंश में राक्षसी

---

* या गतिः सर्वभूताना ता गतिं ते पिता गतः।

† क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।

‡ न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।

हो। तुमने हमारे धर्मवत्सल पिता को मारकर भाइयों को रास्ते का भिखारी बना दिया है। तुम नरक में जाओ।" जब गद्‌गद् कंठ से भरत यह कह रहे थे, तब दूसरे घर में कौशल्या ने सुमित्रा से कहा—"भरत का बोल जान पड़ता है। वह आ गया है। उसे मेरे पास लिवा लाओ।" कृशाङ्गी सुमित्रा जब भरत को ले आयी तब कौशिल्या ने कहा—"तुम्हारी मा तुम्हें लेकर निष्कंटक राज भोगे, मुझे तो तुम रामचन्द्र के पास भिजवा दो।" इस कटूक्ति से मर्म-विद्ध होकर भरत ने अनेक शपथ खाई, क्योंकि वे इस व्यापार का विन्दु विसर्ग भी नहीं जानते थे। उन्होने अनेक प्रकार से इस बात के समझाने का प्रयत्न किया और दारुण शोक तथा लज्जा से पीड़ित हो वे अपने ऊपर अभिसम्पातवृष्टि करने लगे। कहते कहते शोक से मुह्यमान हो वे अचेत होकर गिर पड़े। अन्त मे करुणामयी माता कौशल्या ने धर्मभीरु राजकुमार के मन की अवस्था जानी और उन्हें गोद में लेकर वे रोने लगीं।

भरत का शोक और उदासी मानो क्रम से बढ़ चलीं। श्मशान-घाट पर मृतपिता के कठ से लगकर रोते रोते भरत ने कहा—"पिता! आप अपने दोनों प्यारे पुत्रो को वन मे भेजकर कहाॅ जाते हो?" अश्रुपूर्ण कातर दृष्टि राजकुमार को कर्त्तव्यपरायण महर्षि वशिष्ट ने समझा-बुझाकर किसी प्रकार पिता के और्द्ध्व दैहिक कार्य्य सम्पादन में प्रवृत्त कराया। शोक से विह्वल हो, भरत एक बार चेष्टाशून्य होकर गिर पड़े।

अगले दिन सबेरा होते ही बन्दियों ने भरत का स्तवगान आरम्भ किया। तब भरत ने उन्मत्तो की तरह दौड़कर उन्हें मना कर दिया—'इक्ष्वाकुवंश की प्रथानुसार सिंहासन बड़े भाई को मिलना चाहिये। तुम किसका वन्दनागीत गाते हो?"

राजा की मृत्यु जिस दिन हुई थी उससे चौदहवे दिन वशिष्ठ और प्रमुख मंत्रियों ने भरत से राज्य-भार ग्रहण करने का अनुरोध

किया। इस पर भरत ने कहा—"रामचन्द्र राजा होंगे, मैं अयोध्या की समस्त प्रजा-मंडली सहित जाकर और उनके चरण पड़कर लिवा लाऊँगा। यदि वे न आये तो चौदह वर्ष के लिये मैं भी वन-वासी होऊँगा।"

शत्रुघ्न क्रोध में भर मन्थरा को मारने चले और कैकेयी को धमकाकर जब उसकी ओर बढ़े; तब क्षमा के अवतार भरत ने उन्हें मना कर दिया।

भरत के साथ सब अयोध्यावासी रामचन्द्र को लौटा लाने के लिये दौड़े। शृङ्गवेरपुरी में गुहक के साथ भरत का साक्षात्कार हुआ। गुहक ने पहले भरत के विषय में सन्देह किया था, किन्तु भरत का मुँह देखकर गुहक को उनके हृदय का भाव ताड़ने में देरी न लगी।

इङ्गुदी के मूल में तृणशय्या पर रामचन्द्रजी ने केवल जलपान कर रात्रि व्यतीत की थी। वह तृणशय्या रामचन्द्र के विशाल बाहु पीड़न से निष्पेषित हुई थी और सीताजी की ओढ़नी से गिर कर स्वर्णविन्दु उसके ऊपर बिखरे हुए थे। यह दृश्य देखकर भरत मौनी होकर खड़े रह गये। गुहक बात कहते थे, किन्तु भरत उसे सुन ही नहीं सकते थे। भरत को संज्ञाशून्य देखकर शत्रुघ्न उन्हें आलिङ्गनकर रोने लगे। साथ ही साथ रानियों और मन्त्रियों का शोक सहसा उछल पड़ा। बड़े यत्न से सचेत होने पर भरत आँखों में आँसू भरकर बोले—'यही क्या उनकी शय्या है? जिन्हें बहुत काल से आकाशस्पर्शी महलों में रहने का अभ्यास था, जिनका महल पुष्पमाल्य, चित्र और चन्दन से अनुरञ्जित था, जिनके महल का शिखर नृत्यशील शुक और मयूरों की विहारभूमि और गाने बजाने से मुखरित होता था और जिसकी काञ्चन की दीवारें उत्तम कारीगरी का नमूना थीं, उसी महल के मालिक इस इङ्गुदी के मूल में धूल पर पड़े थे, यह बात स्वप्न के समान जान पड़ती है। इस पर विश्वास नहीं होता। मैं किस मुँह से राजवेष धारण

करूँ? भोगविलास के द्रव्य से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। मैं आज से जटा बल्कल धारणकर भूतल में शयन करूँगा और फल मूल खाकर जीवन बिताऊँगा।"

इसके बाद जटा-बल्कल-धारी विमूढ़ राजकुमार ने भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाकर रामचन्द्र का अनुसन्धान किया। इस सर्वज्ञ ऋषि ने भी पहले सन्देह करके भरत के मन को उत्पीड़ित किया था। एक रात्रि भरद्वाज के आश्रम में आतिथ्य ग्रहण कर, मुनि के निर्देशानुसार राजकुमार चित्रकूट की ओर प्रस्थानित हुए। भरद्वाज ने भरत के शिविर में जाकर रानियों को पहचानना चाहा। भरत ने अपनी माताओं का परिचय इस प्रकार दिया—"भगवन्! यह जो शोक और अनाहार से क्षीणदेह सौम्यमूर्त्ति देवी की तरह दिखलाई देती हैं—यही मेरे बड़े भाई रामचन्द्रजी की माता हैं। इनके बाएँ हाथ का सहारा ले जो उदास खड़ी हैं और जो वनान्तर के शुष्क पुष्पकनेर के तरु की तरह शीर्णाङ्गी हैं—वही लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी सुमित्रा हैं और उनके पास जो खड़ी है, वही अयोध्या की राजलक्ष्मी को विदा करके आयी है और वह पतिघातिनी, सब अनर्थों की मूल, वृथा प्रज्ञाभिमानिनी और राज्यकामुका इस दुर्भाग्य की माता है।" यह कहते-कहते भरत के दोनों नेत्र जल से भर गये और क्रुद्ध सर्प की तरह एक बार सजल नेत्रों से उन्होंने अपनी जननी की ओर देखा।

मातृवृन्द और मंत्रिवर्ग से परिवृत भरत चित्रकूट के समीप पहुँचकर रथ से उतर पड़े और पैदल आगे बढ़े। भरत के साथ के लोगों की भीड़ की चाल से धूल उड़कर आकाश में छा गयी और तुमुल शब्द करते पशु पक्षी चारों ओर दौड़ने लगे। तब रामचन्द्रजी ने संत्रस्त होकर लक्ष्मण से पूछा—"देखो, कोई राज-कुमार या राजा इस वन में आखेट के लिये आया है क्या? अथवा किसी भीषण जीव जन्तु के आगमन से इस शान्त-निकेतन की शान्ति में यह विघ्न उपस्थित हुआ है?" जब लक्ष्मण ने एक

ऊँचे पुष्पित शाल वृक्ष पर चढ़कर इधर उधर देखा, तब पूर्व दिशा में उन्हें सैन्यश्रेणी दिखलाई दी। उसे देख वह बोले—"अग्नि बुझा दो, सीता को गुफा में छिपाकर रखो और अस्त्र-शस्त्र लेकर तैयार रहो।" इस पर रामचन्द्र ने पूछा—"किसकी सेना आती है, कुछ समझ में आया क्या ?" लक्ष्मण ने कहा—"यह जो पास ही विशाल वृक्ष दिखलाई पड़ता है, उसके पत्तों के बीच से भरत के रथ की कोविदार-चिह्नित ध्वजा दिखाई देती है। अभिषेकमात्र से अपना मनोरथ पूरा हुआ न समझ कर, निष्कंटक राज्य एवं श्रीलाभ की कामना से, भरत हम लोगों को मारने के संकल्प से अग्रसर हो रहा है। आज सब अनर्थों के मूल भरत को मैं मारूँगा।"

यह सुन रामचन्द्रजी ने कहा—"भरत हम लोगों को लौटाकर ले जाने के लिये आता है। सब अवस्थाओं को जानकर, मुझमें चिरकाल से अनुरक्त, मेरा प्राणों से प्यारा भरत स्नेहपूर्ण हृदय से, पिता को प्रसन्नकर, हम लोगों के लिये आया है। तुम उसके विषय में ऐसा अनुचित सन्देह क्यों करते हो ? भरत ने तो हम लोगों की कभी कुछ बुराई नहीं की। तुम उसके प्रति क्यों क्रूर वाक्यों का प्रयोग करते हो ? यदि तुम्हें राज्य का लोभ हो तो हम भरत से कहकर निश्चय तुमको राज्य दिला देंगे।" धर्मशील भाई की इस बात को सुनकर लक्ष्मण ने लज्जा से नीचा सिर कर लिया।

इसके कुछ परे ही भरत वहाँ आ पहुँचे। अनशन, कृश और शोक की सजीव मूर्ति देवोपम भरत, रामचन्द्रजी को चटाई पर बैठा देख बालकों की तरह उच्च स्वर से रोने और कहने लगे— "जिसके सीस पर सुवर्ण छत्र शोभा पाता था, उसी रघुवंश-मणि के सीस पर आज जटाभार क्यों है ? हमारे बड़े भाई का शरीर चन्दन और अगर से साफ होता था, आज वही अङ्गरागहीन धूलि-धूसरित हो रहा है ! जो समस्त विश्व की प्रकृति-कुंज के

आराधन की वस्तु है, वह भिखारी के वेष से वन-वन में फिर रहा है। मेरे कारण ही ये सारे कष्ट सहन कर रहे हो—मेरे इस लोक-गर्हित जीवन को धिक्कार है।" यह कहते कहते भरत उच्च स्वर से रोकर रामचन्द्र के पैरों पर गिर पड़े। इन दो त्यागी महापुरुषों के मिलन का दृश्य बड़ा ही करुण है। भरत का मुख सूख गया है, उनके माथे पर भी जटाजूट और देह पर चीर है। वे अंजलि बाँधकर अग्रज के पैरों पर लोट रहे हैं! भरत इतने विवर्ण और कृश हो गये थे कि रामचन्द्रजी ने उन्हें देर में पहचान पाया। फिर अत्यन्त आदरसहित हाथ पकड़कर उनको उठाया और मस्तक सूँघकर स्नेहपूर्वक गोद में बिठाकर, रामचन्द्रजी ने भरत से कहा—"वत्स! तुम्हारा यह वेष क्यों है? तुम्हारा इस वेष से वन में आना ठीक नहीं।"

भरत ने बड़े भाई के पैरों पर लोटकर कहा—"मेरी जननी घोर नरक में गिर रही है, आप उसकी रक्षा करें, मै आपका भाई हूँ। आपका शिष्य और दासानुदास हूँ। मेरे ऊपर आप प्रसन्न हूजिये। आप राज्य में पधारकर, अपना अभिषेक कराइये।" बहुत सी बातें और वितंडे के अनन्तर भरत ने कहा—"मैं चौदह वर्ष तक वन में वास करूँगा—अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करना मेरा काम है।" जब किसी प्रकार रामचन्द्रजी लौटने पर सम्मत न हुए, तब भरत अनशन व्रत धारणकर कुटीर के द्वार पर भूतल पर गिर पड़े। रामचन्द्र जी ने ऐसी अवस्था में भरत को आदरपूर्वक उठाया और अपनी चरणपादुका देकर लौटने को कहा। भरत ने भाई की खड़ाउँओं को अपने सीस पर रखा। सहस्रों आभूषण धारण करने से जो शोभा नहीं हो सकती, इन खड़ाउँओं को सिर पर धारण करने से वही शोभा भरत की हुई। विदा होते समय भरत ने कहा—"राज्य भार इन खड़ाउँओं को समर्पण कर चौदह वर्ष तक तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा, उस समय के अन्त में यदि आप न आये तो अग्नि में पड़कर जीवन विसर्जन करूँगा।"

अयोध्या के पास पहुँचकर भरत ने कहा—'अयोध्या अब अयोध्या नहीं है। मैं इस सिंहहीन गुफा में प्रवेश नहीं कर सकता।" नन्दी ग्राम में राजधानी बनी। वह राजधानी नहीं, ऋषि का आश्रम बना। मंत्रिगण जटा-वल्कल-धारी, फलमूलाहारी राजा के समीप किस मुँह से बहुमूल्य वस्त्र पहनकर बैठते ? उन सबने भी काषाय वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिये। उस काषाय-वस्त्र-धारी मंत्रियों की मण्डली से घिरकर, व्रतोपास से कृशाङ्ग, त्यागी राजकुमार ने खड़ाउँओं पर चँवर फिराकर राज्य-पालन किया था।

भरत की यह उदास मूर्ति रामचन्द्र जी के चित्त में शूल की तरह चुभती रही। जब सीता-हरण के पश्चात् वे उन्मत्त वेश में पम्पा के तीर पर फिर रहे थे, तब उन्होंने कहा था—"इस पम्पा तीर की रमणीय दृश्यावली सीता के वियोग और भरत के दुःख को स्मरणकर, मुझे अच्छी नहीं लगती।" एक दिन और लङ्का में रामचन्द्र जी ने सुग्रीव से कहा था—"भाई ! भरत जैसा भाई जगत् में मैं कहाँ पाऊँगा ?"

अयोध्या में रामचन्द्र जी के पधारने पर भरत, स्वयं उनके पैरों में वे ही दोनों खड़ाऊँ पहनाकर कृतार्थ हुए और उनको प्रणामकर बोले—"देव ! तुमने इस अयोग्य के हाथों में जो राज्यभार समर्पण किया था, उसे स्वीकार करो। चौदह वर्ष में राजकोष में जो धन आया है, वह दसगुना अधिक हो गया है।'

रामायण मे यदि कोई चरित्र ठीक आदर्श समझकर ग्रहण किया जाय तो वह एकमात्र भरत का चरित्र है। सीताजी ने लक्ष्मण जी को कटूक्तियाँ सुनायीं, वे क्षमायोग्य नहीं हैं। रामचन्द्रजी के बालि-वध इत्यादि अनेक कार्य हैं जिनका समर्थन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मणजी की बातें अनेक बार रूखी और उद्दण्डता से भरी होती हैं। कौशल्या ने दशरथ से कहा था—"कोई कोई जल के जीव जिस प्रकार अपने सन्तान को खा लेते हैं,

तुमने भी उसी प्रकार किया है।" किन्तु भरत के चरित्र में कोई भी त्रुटि नहीं। पादुका के ऊपर सुवर्ण चँवर फिराने और जटा-वल्कल धारण करने वाले इस राजर्षि के चरित्र से रामायण में एक अद्वितीय सौन्दर्य आ गया है। दशरथ ने बहुत ठीक कहा था कि—"धर्मतः राम से भी अधिक मै भरत को मानता हूँ।"

कैकेयी के सहस्रों दोष हम उस समय क्षमा के योग्य समझते हैं, जब हमें इस बात का विचार उत्पन्न होता है कि वह इस प्रकार के सुपुत्र की गर्भ-धारिणी है। हम निषादाधिपति गुहक के साथ एकवाक्य होकर यह कह सकते हैं—"बिना यत्न के मिलते हुए राज्य को तुम छोड़ना चाहते हो, ससार में तुम्हारे तुल्य कोई दिखाई नहीं देता*।"

१२—महात्मा सूरदास

[श्री श्यामबिहारी मिश्र]

सूरदास की गणना अष्ट-छाप अर्थात् ब्रज के आठ कवीश्वरों में है। उन आठों कवियों के नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास। इनमें प्रथम चार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के और अंतिम चार श्री स्वामी विठ्ठलनाथ के सेवक थे। ब्रज-भाषा के अरुणोदय-काल में, ब्रज में, ये आठों कवि हो गए हैं और सभी ने पदों द्वारा श्रीकृष्णचंद्र आनदकंद के यश का कीर्तन किया है।

चौरासी वार्ता तथा भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत-ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। इनका जन्म

---

* धन्यस्त्व न त्वया तुल्य पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्य यस्त्व त्यक्तुमिहेच्छसि॥

दिल्ली के समीप सीही-ग्राम निवासी निर्धन माता पिता के घर हुआ था। अब यह प्रश्न उठता है कि सूरदास जन्मांध थे या नहीं? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परन्तु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-कृत रामरसिकावली में भक्तमाल के आधार पर लिखा हुआ है।—"जनमहि ते हैं नैन-बिहीना।" हमें तो इस लेख पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा वर्णन कर सकता है। चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना नहीं लिखा है। एक किंवदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए थे; मगर पीछे प्रकृतिस्थ होकर यह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयों से अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले। यह बात सत्य जँचती है। संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासीवार्ता में यह हाल न लिखा गया हो।

भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था। कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए। उस समय सूरदास भी उनके साथ थे। जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे विनती की कि 'अब मुझे यहीं रहने दो।" इस पर उनके माता-पिता रोने लगे। बोले—"तुम्हें अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ?" तब सूरदास ने कहा—"कृष्णचन्द्र का सहारा क्या थोड़ा है?" इस पर एक साधु ने कहा—"मै इस बालक को अपने साथ रक्खूँगा।" तब सूर के माता-पिता रोते कलपते घर चले गए और यह महाराज ब्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े और छः दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला। सूर ने समझा, स्वयं कृष्ण भगवान् ने उन्हें निकाला

है। बस, इन्होंने निकालने वाले की बाँह पकड़ ली; पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया। इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

"बाँह छोड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहिं ;
हिरदै सों जब जाइहौ, मरद बदौंगो तोहिं।"

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, यह महाराज गऊ-घाट नामक एक स्थान पर, जो आगरा और मथुरा के बीच में है, रहने लगे। वहीं यह महाराज वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्हीं के साथ गोकुल में श्रीनाथ जी के मंदिर को गए और बहुत काल तक वहीं रहे। इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी विट्ठल नाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी और गोस्वामीजी इनके पद सुना करते थे। सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे।

यहीं रहते-रहते यह महाराज वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब इन्हें विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारा-सोली को चले गए। जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारासोली पहुँचे और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बात-चीत होती रही। उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरु जी ही के बनाए हैं, क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचन्द्र में कोई भी भेद नहीं है।" तथापि उन्होंने एक पद भी रचा। वह यों है –

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ;
श्रीबल्लभ-नख-चंद छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि मैं, जासों होत निबेरो ;
'सूर' कहा कहि दुबिधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।"

अंत-समय सूरदास ने कृष्ण-राधिका का एक भजन कहा और ऐसे प्रेम-गद्‌गद्‌ हुए कि उनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया। इस

पर गोस्वामी जी ने पूछा—"सूरदास जी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" तब सूरदास ने निम्न-लिखित भजन पढ़ कर शरीर त्याग दिया—

"खंजन-नैन रूप-रस-माते ;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-उलटि ताटंक फँदाते;
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।"

इन महाशय के विषय में कई ग्रंथकारों का मत है कि यह उद्धव के अवतार थे।

कविता—सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए हैं—सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्यलहरी (दृष्ट कूट), नल-दमयंती और व्याहलो। खोज में व्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे हैं; पर हमारे देखने में नहीं आए।

साहित्यलहरी को सूरदास ने सं० १६०७ वि० में सकलित किया था। इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गये हैं। इसकी एक छंदोबद्ध टीका भी है; जो सूरदास के नाम से बनी है। परन्तु यह निश्चय नहीं होता कि यह टीका सचमुच सूर-कृत है या नहीं। टीका में प्रत्येक पद के अलंकार, नायिका आदि का वर्णन है। परन्तु सूरदास ने रीतिवद्ध कविता नहीं की है। स्वाभाविक रीति से वर्णन जहाँ उचित था लिखा। इस कारण शंका होती है कि यह टीका सूर-कृत नहीं है। सरदार कवि ने अपनी टीका में पहले ११७ पद दिये हैं, फिर ६३ और लिखे हैं। इस प्रकार उनकी प्रति मे कुल १८० पद हैं। इन कूटों में नायिका और अलंकार अवश्य निकलते हैं श्रुति-कटु दूषण भी नहीं है; परन्तु यह दोष है कि बिना टीका की सहायता के इनका अर्थ लगाना कठिन है। इनमें यमक और अनुप्रास खूब आए हैं। यदि कोई धैर्यवान् व्यक्ति इस पुस्तक के अर्थ लगा कर देखे, तो विदित हो कि इसमें सूरदास ने कितना परिश्रम किया है।

सूरसारावली में सूरदास ने सूरसागर की सूची-सी दी है। इसमें ११०७ पद हैं। परन्तु कुल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है, जितना इन महाकवि के अन्य ग्रन्थों को। यदि एक ही छंद वाले भूषण को छोड़ दीजिए, तो इस ग्रन्थ में भी सूरदास की वही छटा विद्यमान है, जिसने उनको कवियों में सूर्य की पदवी से विभूषित कराया है।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है। परन्तु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़ कर शेष स्कंध बहुत छोटे हैं और उनमें साहित्यिक छटा में प्राय: वैसी रोचकता नहीं है, जैसी कि दशम के पूर्वार्द्ध में। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-काण्ड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूर सागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो सूर को सूर्यवत् कोई भी न माने। तथापि, जैसे रामायण के अन्य काण्डों में गोस्वामी जी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण झलक मिलती है और पूर्वोक्त दोनों काण्ड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते हैं, उसी प्रकार वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है। सूर-सागर में श्री मद्भागवत के आशय पर कथा कही गई है; परन्तु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं।

सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया है; केवल श्री कृष्ण ने नंदगृह में बस कर जो लीला की है, उसका और उद्धव-संवाद का वर्णन विस्तारपूर्वक है। परन्तु इन्हीं दोनों वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते हैं। सूर ब्रजवासी कृष्ण के, विशेष कर राधा-कृष्ण के, भक्त थे। अत: ज्योंही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्योंही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा। कहीं-कहीं आपने कार्यों के वर्णन में भी द्रुत गति ही का आश्रय लिया है। आप ब्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ ५६३)।

कविता की समालोचना—(१) सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके पद-पद से कवि की अटल

भक्ति झलकती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चचल नहीं किया तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न अवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य-संबंधी असली भाव उठेंगे और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी ख़ास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है— "थारी कविता में सूल्यो लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद कर्म-भेद आदि को तुच्छ मान कर केवल भक्ति को प्रधान और एक-मात्र मानव-हृदय का शृङ्गार समझते थे। इनके मत में यदि कोई नर भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो पृष्ठ ४, संख्या १८)। कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यों न लगाता हो, परन्तु यदि शुद्ध भक्त नहीं है, तो वह

अपना समय वृथा नष्ट करता है (पृष्ठ ५, संख्या २८)। यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्त क्योंकर न हो ? जो भक्ति नहीं करता था, उस पर यह अचंभा करते थे (पृष्ठ ३५, संख्या १३)। यह कहते थे —'भगति बिनु बैल बिराने ह्वैहौ" (पृष्ठ ३१, संख्या २०३) । भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

"तजौ मन, हरि-विमुखन को संग ;
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग ।
कहा होत पय-पान कराए विष नहिं तजत भुजंग ;
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए-गंग ।
खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन-अंग ;
गज को कहा न्हवाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग ।
पाहन पतित बान नहिं वेधत, रीतो करत निषंग ;
'सूरदास' खल कारी कामरि, चढ़त न दूजो रंग ।"

(पृष्ठ ३१, संख्या २०४)

"भजन बिनु कूकर-सूकर-जैसो ;
जैसे घर बिलाव के मूसा रहत विषय बस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हैं भेद कहु कैसो ?"

यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—

"सोई बड़ो जु रामहि गावै ।
श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज-जनम न भावै ।
होय अटल जगदीस-भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै ।"

(पृष्ठ १८, सं० ११८)

और, शेष देवतों में यह देव-भाव नहीं रखते थे । यथा—

"और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे ।"

(पृष्ठ १६, संख्या ११३)

परन्तु, तो भी. यह महाराज गोस्वामी तुलसीदास की भाँति और देवतों को गालियाँ नहीं देते थे। सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।

सगुणोपासना करने का कारण सूर ने इस प्रकार लिखा है—

"अबिगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै;
मन-बानी को अगम. अगोचर सो जानै. जो पावै।
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन चकृत धावै;
सब विधि अगम विचारहिं, ताते सूर सगुन लीला पद गावै।"

(पृष्ठ १, संख्या २)

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है (पृष्ठ ११, संख्या ६६; पृष्ठ १२, संख्या ७३)। इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होने पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति में भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी; परन्तु इनकी सखा और सखी-भाव की। यह महाशय श्रीकृष्णचन्द्र को अपना मित्र समझते थे और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे। इसके अतिरिक्त सखी भाव भी आपकी रचना में आता है। तुलसीदास जब कभी राम की नर-लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं; वह केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भोंड़े प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते हैं कि जी उकता उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बडा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। यह एक-दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने,

जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो-चार स्थानों पर सिफारशी छंद दिए हैं (पृष्ठ ११६, संख्या १६; पृष्ठ १२६, संख्या ६२)। परन्तु श्रीकृष्णचन्द्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौके-बे-मौके नहीं दिखाया है। पृष्ठ ४७२ पर आपने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद भी दिया है। इन्होने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है। यथा—पृष्ठ ६ संख्या ३१; पृष्ठ ७ संख्या ३६ और—

"हम बिगरी, तुम सबै सुधारी ;
द्विज कानीन हमारे बाबा, सुंडज पिता, जगत में गारी।
हम सब जग-जाहिर जारज हैं, ताहू पर यक बात बिगारी ;
बड़े कष्ट सों ब्याहु भयो है पतिनी ह्वै गइ पंच-भतारी।"

"तुम जानत राधा है छोटी।
हमसों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी-पोटी ;
कबहुँ स्याम सों नेकु न बिछुरत, किये रहति हमसों हठ-जोटी।
नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी ;
'सूरदास' प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी।"

(पृष्ठ ११६, संख्या ७५)

"सखी री श्याम कहा हितु जानै ?
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।"

(पृष्ठ ४७६ संख्या ८४)

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं।

(२) सूरदास की भापा शुद्ध व्रज-भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिन्दी के वास्तविक उत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे। परन्तु इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है कि जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। पृष्ठ ५८३ में आपने 'महलात' शब्द का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता में मिलित-वर्ण बहुत कम आते

हैं। उसके माधुर्य और प्रसाद-प्रधान गुण हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। इनको यमक और अनुप्रास का इष्ट नहीं था; परन्तु उचित रीति पर इन दोनों गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। कहीं यमक आदि के लिये इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गम्भीरता से भरे हुए हैं।

सिवा सूरसारावली के, समस्त कविता में. इन्होंने छंद इतना शीघ्र और इस रीति पर परिवर्तित किये हैं कि कहीं इनके छन्द अरुचिकर नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता में संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रक्खे; परन्तु जहाँ कहीं वे आए हैं, वहाँ स्तुत्य रीति से आए हैं। इनके कुछ घनाक्षरी-छंद भी मिले हैं (पृष्ठ ४०४, संख्या ३६ और ३७)। कुछ घनाक्षरी-छंद आपने छः पदों के भी लिखे हैं। सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिए जायँगे, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा-रूपक। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसन्द करते थे, और इन्होंने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ-गांभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

"उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलवीर (वीरबल);
केसव अर्थ-गँभीरता, सूर तीनि गुन धीर।"

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए हैं। सयोग-शृङ्गार में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रक्खी है, और वियोग-वर्णन में स्वभावोक्ति की। यथा—

"अद्भुत एक अनूपम बाग;
जुगुल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।

हरि पर सरवर, सरपर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ;
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमिरित-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर ता ऊपर एक मनिधर-नाग।
अंग-अग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।''

(४) नख-शिख। पूर्वोक्त दोनों पदों में कवि की नख-शिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है। नख-शिख के श्रेष्ठ वर्णन पृष्ठ २८, संख्या १८२, पृष्ठ १८६ और १८७, पृष्ठ ७८, संख्या १० के छंदों में भी हैं और वे बहुत ही श्लाघ्य तथा सुहावने हैं।

(५) प्रबंध-ध्वनि। इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है। इस कथन के उदाहरणार्थ पृष्ठ ६ संख्या ४८ देखिए।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते हैं, उसमें फिर औरो के लिए बहुत कम भाव रह जाते हैं। या तो यह बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं, या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य कवियो को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते है; क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नहीं रखते।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाललीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बालचरित्र इन महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार भर के किसी ग्रन्थ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का

खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से कहे गए हैं कि जान पड़ता है, सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरण-स्वरूप किस छंद को हम लिखें। पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिल सकता है। ज्योंही माता ने कहा—'कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै", त्योंही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—"मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ? किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।"

(ख) बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सचमुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो।

(ग) ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-दमन, दावानल-पान और चीर-हरण के बड़े ही विशद वर्णन हैं। उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते। परन्तु ये वर्णन देखने ही योग्य हैं। सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार किए हैं। भोज्य वस्तुओं में आप अपच करने वाली चीज़ों की बहुतायत रखते हैं। उनमें सघृत वस्तुओं का प्राधान्य रहता है।

(घ) इसके पीछे रासलीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही अच्छे हैं। विशेषकर ३९९ से ४११ पृष्ठ-पर्यन्त जो मान और मान-मोचन वर्णित है, उससे प्रकट होता है कि यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है, अथच महा भक्त होने पर भी शृंगार-रस के गूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है। यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस

का वर्णन करने वालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय। परंतु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास, दास इत्यादि की भाँति इन्होंने अपनी कविता में अन्य कवियों की कविताओं से उठा-उठाकर उल्था नहीं रक्खा है; न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता में जहाँ कहीं विस्तृत वर्णन हैं, वहीं वे सच्चे, असली, खास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने सच्चे पाठकों से ऐसे ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास;
अब के कवि खद्योत-सम, जहँ-तहँ करत प्रकास।"
"कविता करता तीनि हैं, तुलसी, केसव सूर;
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।"
"तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी;
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी।"
"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर;
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन धुनत सरीर।"

अन्तिम दोहा तानसेन ने बना कर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

"विधना यह जिय जानि कै, सेसहि दिए न कान;
धरा, मेरु सब डोलतो, तानसेन की तान।"

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता में असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है; अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। "विन्ध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है" की भाँति के कथन इन सच्चे

कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम श्रीकृष्णचन्द्र के सम्बन्ध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असम्भव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते; क्योंकि वे उस कथा के अंग हैं, जिसे यह कवि कहने बैठे हैं। इसी यथार्थ-भाषण की आदत के कारण इन्होंने कई स्थानों पर विस्तार से सुरति का वर्णन किया है, और कहीं-कहीं ऐसी-ऐसी गालियाँ दिलाई हैं, जिनको कविता में रखना सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी सराहनीय अवश्य हैं।

(ङ) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है; परन्तु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिख कर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है। और जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका, अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार, कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का वर्णन न करके बहुत कम का किया है; परन्तु जो कुछ कहा है, वह परम मनोहर है। हम अधिक उदाहरण न देकर केवल धीरादि-भेद का एक पद नीचे लिखते हैं। यथा—

" अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे ;

मानहुँ रति-रस भए रँगमगे, करत-केलि पिय पलक न पारे।
मंद-मंद डोलत संकित-से, राजत मध्य मनोहर तारे,
मनहुँ कमल-संपुट महँ बींधे, उड़ि न सकत चंचल अलि-बारे।
झलमलात, रँति-रैनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे ;
मानहुँ सकल जगत जीतन को, काम-बान खरसान सँवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पुट, मूँदत, कबहूँ करत उघारे ;
मनहुँ मुदित मरकत-मनि-अंगन, खेलत खंजरीट - चटकारे।
बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे ;
'सूर' स्याम सुखदायक रोचन, दुख-मोचन लोचन रतनारे।"

कथाओं के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी रचना में काल-विरुद्ध दूषण आ जाता है। जैसे दावानल में गोवर्द्धन-धारण का, और गोवर्द्धन-धारण में दावानल-पान का।

(च) इन सब कथाओ के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'कलम तोड दी,' तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह वर्णन में इन महाकवि ने सचमुच क़लम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़कर जान पड़ता है कि सूरदास वियोग-शृङ्गार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छन्द उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते, क्योकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

(छ) उद्धव-सवाद भी बहुत ही विस्तृत-रूप से कहा गया है। यह पृष्ठ ५०२ से प्रारम्भ होकर पृष्ठ ५६२ पर समाप्त होता है, और ये पृष्ठ रॉयल अठ-पेजी के ढाई गुने होंगे। यह भी आद्योपांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा, जो इसमें न आ गया हो। इनमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है—

"ऊधो, मन न भए दस-बीस ;
एक हुतो, सो गयो स्याम-संग, को अवराधै ईस ?
इन्द्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यों देही बिनु सीस ;
आसा लगी रहति तनु-स्वासा, जीजै कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम-सुन्दर के, सकल जोग-के-ईस ;
'सूरदास' वा रस की महिमा, जो पूछै जगदीस।"

उद्धव-संवाद में गोपियों ने कहीं-कहीं ज्ञान को व्यर्थ माना है, और कहीं-कहीं अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा। निर्गुणोपासना

का खंडन अवतार के सिद्धान्त को ठीक मान कर किया गया है, जो तार्किक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। अंत में उद्धव जी भी ज्ञान भूल कर प्रेममग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे। उसके बाद उन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफारिश की।

(ज) अन्य राजाओं की कथा एवं युद्ध इत्यादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना।

(झ) इन्होंने स्फुट विषयों का वर्णन भी कहीं-कहीं अच्छा किया है। प्रीति के विषय में इनका मत है—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो;
प्रीति पतंग करी दीपक सों अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जलसुत सों संपुट हाथ गह्यो;
सारँग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो;
'सूरदास' प्रभु-बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो।"

सत्सग पर सूरदास को बड़ी श्रद्धा थी। इस बात में भी तुलसीदास से इनका मत मिलता है। यथा—

"जा दिन संत पाहुने आवत;
तीरथ-कोटि अन्हान करै फल, जैसो दरसन पावत।
नेह नयो दिन दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत;
मन-बच क्रम औरन नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्या-बाद-उपाधि-रहित है, बिमल-बिमल जस-गावत;
बंधन करम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत।"

इस छन्द से सूरदास के रहन-सहन का भी पता लगता है। इन महाशय ने पाँच पृष्ठ तक केवल मुरली का वर्णन किया है। उसमें बड़े ही बढ़िया पद लिखे हैं। जब श्याम का इतना

वर्णन है, तब फिर मुरली ही क्यों रह जाय? यह इन्हीं का काम था कि मुरली-जैसे विषय पर करीब चालीस पद लिख गए।

इन महाकवि ने पृष्ठ ३१६ से करीब १८ पृष्ठों में केवल नेत्रों का वर्णन किया है। ऐसे-ऐसे छोटे विषयों पर इतनी बड़ी कविता रच डालना साधारण कवि का काम नहीं है। इस वर्णन में भी अच्छे पद बहुत हैं। उदाहरण लीजिए—

"नैना नाहीं कछू बिचारत;
सनमुख समर करत मोहन सों, यद्यपि हैं हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित तोष अति आरत;
तमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट पटहि बिदारत।

(६) सूरदास ने कई जगह पर पदों में कथाएँ कहकर फिर उनको साधारण छन्दों में सूक्ष्म-रूप से दुहराया है। इन सब में कालिय-दमन की दुबारा कथा श्लाघ्य है।

(७) सूर ने जगह-जगह पर कूट लिखे हैं। उनमें अलंकार तथा रसांग भी आए हैं। उदाहरण स्वरूप सरदार-कृत सूर-दृष्टकूट (मुंशी नवलकिशोर के यहाँ मुद्रित हुई प्रति) के पृष्ठ ६४ पर लिखित एक कूट हम यहाँ लिखते हैं।*

" जनि हठ करहु सारँग-नैनी;
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग-बैनी।
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँगसुत दृढ़ निरखनि पैनी;
सारँग कहो सु कौन विचारो, सारँगपति सारँग रचि सैनी।
सारँग सदनहि ले जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत-भइ रैनी;
'सूरदास' प्रभु तव मग जोवै, अंधकरिपुता रिपु सुख-दैनी।"

(८) इन्होंने लोगों का शील-गुण भी अच्छा दिखलाया है। यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था, तथापि वह उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं; पर ऐसी

* उसका अर्थ भी उसी पृष्ठ पर सरदार ने लिखा है।

उदार हृदया भी थीं कि रोहिणी-पुत्र बलदेव को अपने पुत्र से भी अधिक मानती थीं। यथा—

"हलधर कहत प्रीति जसुमति की।
एक दिवस हरि खेलत मोसों, झगरो कीन्हों पेलि;
मोको दौरि गोद करि लीन्हीं, उनहिं दियो कर ठेलि।"

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी से जो संदेश कहला भेजा है, वह विशेष रूप से देखने योग्य है—

"सँदेसो देवकी सों कहियो;
हौं तो धाय तिहारे-सुत की, मया करत नित रहियो।
जदपि टेंव तुम जानत उनकी, तऊ मोहि कहि आवै;
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि, माखन रोटी भावै।
तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भगि जाते;
जोइ जोइ माँगत, सोइ सोइ देती, क्रम-क्रम करि करि न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़ो रहत उर सोच;
मेरो अलख-लड़ैतो मोहन, ह्वैहै करत सँकोच।"

यशोदा के शील गुण में केवल वह बात अनुचित जान पड़ती है कि उन्होंने नंद से बार बार कहा—"दशरथ तुमसे अच्छे थे। क्यों तुम पुत्र को मथुरा में छोड़कर जीते-जागते घर चले आए?" इन्होंने शायद अपनी यथार्थ भाषण की टेंव से ऐसा कहला दिया हो।

(६) यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि उन्होंने गोपियों के मुख से काले रंग की ख़ूब निंदा कराई है, और अंत-पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफारिशी छंद नहीं लिखा। वे कहती थीं—

"सखी री, स्याम सबै इकसार;
मीठे बचन सोहाए बोलत, अंतर-जारनहार।
* * * *
भँवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार!"

"सखी री, स्याम कहा हितु जानै ?
कोऊ प्रीति करी कैसे हू, वह अपने गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी बरषत पोषै आनै;
'सूरदास' सरवसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।"
तथा "ऊधो, कारे सबहिं बुरे।" इत्यादि।

इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो वे गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, बिना अपनी सम्मति प्रकट किए रह जाते। अँगरेजी में ऐसे कवियों को सर्व-व्यापक दृष्टि के कवि (Poet of general vision) कहते हैं। सूरदास इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मतभेद से खाली नहीं है। अतः सूरदास की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियो में है, और निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे कोई भी अच्छा है। अब हम लोगों का यह मत है कि हिंदी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास हिन्दी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिन्दी के वास्तविक प्रथम सत्कवि हैं और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वाङ्ग-सुन्दर होते हैं।

१३—काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल]

तदेजति तन्नैजति —ईशावास्योपनिषद्

आत्म-बोध और जगद्-बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक

ही मानकर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा, उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय मे भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में आदम खुदा की प्रति मूर्ति बताया गया पर लोक के बीच नर में; नारायण की दिव्य-कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखाई पड़ा।

सत्, चित्त और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जायँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त विकास रहता है, न सुख-समृद्धि-पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली-धुँधली फूटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष

को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं, उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अन्धकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले।

डटन (Theodore Watts-Dunton) ने जिसे शक्ति-काव्य (Poetry as an energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है पर डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष

को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं, व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौसठ कलाओं मे है—अर्थात् मनोरजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिये। काव्य-समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप में काव्य-दृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरित-मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्धकाव्य; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक, मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीर गाथात्मक गीत। उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। यूरोपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज़ लास्ट, रिवोल्ट आफ इसलाम इत्यादि प्रबन्धकाव्य तथा पुराने बैलड (Ballads)।

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्य्यासप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरुशतक, गीतगोविंद तथा शृङ्गार रस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृङ्गारी पद्य, रास पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ। फारसी उर्दू के शेर और ग़जलें। अँगरेजी की लिरिक कविताएँ (Lyrics) तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनन्द की साधनावस्था

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्द-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता मे भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नही रह सकता। इस सामजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून हैट वाले को धारा प्रवाह सस्कृत बोलने अथवा किसी पण्डित वेशधारी सज्जन को अँगरेज़ी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौन्दर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य सगीत है। सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटा कर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौन्दर्य अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलंत रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय'' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म वृत्ति को

हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है; आगे चल कर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है—अन्त चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेश की बुद्धि से नहीं किया है, धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौन्दर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनंद-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौन्दर्य का दर्शन करने वाले अनेक कवि हुए हैं। अँगरेज़ कवि शेली संसार में फैले पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य मनुष्य के बीच सीधे, सरल, प्रेम भाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उनके 'इसलाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादश सर्ग बद्ध महाकाव्य में मनुष्य-जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) में मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखा कर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अन्त में उस शक्ति की

विफलता की विषाद मयी छाया से लोक को फिर आवृत दिखा कर छोड़ दिया है।

जैसे ऊपर कह आए हैं, मगल अमंगल के द्वन्द में कवि लोग अन्त में मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझ कर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आयेगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जाएँगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है, जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठ कर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिये, धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिये नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तः प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है। मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रम-शाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय, आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं—

न तुला-विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार मुद्रणा॥

भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। १६ वीं शताब्दी के कवि शेली—जो राज-शासन, धर्म-शासन, समाज-शासन आदि सब प्रकार की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे—इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबंध-काव्यों में रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से 'मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिये अपना प्राण तक उत्सर्ग करने वाले, घोर से घोर कष्ट और यन्त्रणा से मुँह न मोड़ने वाले, पराक्रमी, दयालु और धीर हैं उसी प्रकार रूप-माधुर्य-सम्पन्न भी।

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरुपता राम को न देते बनेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का 'रूप-गुण-सम्पन्न 'नायक बनाया, पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने जो उलट-फेर किया वह कला या काव्यानुभूति की किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं; बल्कि एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले-पहल प्रचलित होने पर प्रायः सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंग-भाषा के एक दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय 'महात्मा के रूप में अंकित किये गए हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्षकाव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों

को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मंदिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आये हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्भावना का, अपनी नई कल्पित बातो का, बराबर आरोप करते हैं; पर वे उन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर जो भावनाएं उठती हैं उनके आश्रय के लिए जब कि नये आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वच्छन्दता-पूर्वक की जा सकती है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खंडित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बरावर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्म-क्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षो के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावो की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के

प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अन्तस्संज्ञा के क्षेत्र (Sub-Conscious region) में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरण-काल में कभी कभी उनके स्थायीभाव कारण-रूप में अन्तस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरमसीमा पर पहुँची हुई होती है उस क्षण में आश्रय को ही रति-भाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की ही तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और उनके भाव तथा अन्तर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र में कोई मूलप्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना-चक्र चलता रहता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायी-भाव और अंगी-भाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर—कठोर और तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगल-विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालने वाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठको का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता; चाहे उनकी व्यंजना में रस की निष्पत्ति करने वाले तीनों अवयव वर्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक

या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौन्दर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण "शास्त्र-स्थिति-सम्पादन" चाहे हो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा, पाठक चरित्र-द्रष्टा मात्र रहेगा; उसका केवल मनोरंजन होगा भाव में लीन करने वाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुन्दरता की मात्रा उस बीज-भाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलम्बित होगी — कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र आदि है—तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीजरूप में अन्तस्संज्ञा में स्थित करुणा यदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जन-समूह को, तो गति में बाधा डालने वालों के प्रति दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौन्दर्य के परिमाण में बहुत अन्तर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधना-वस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में राम-

चरित को लेकर चलने वाले महाकवि भवभूति ने 'करुणा' को ही एकमात्र रस कह दिया। रामायण का बीजभाव करुण है, जिसका संकेत क्रौंच को मारने वाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुँह से निकले वचन द्वारा आरम्भ ही में मिलता है। उसके उपरान्त भी बालकाण्ड के १५वें सर्ग में इसका आभास दिया गया है, जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण-द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि काव्य के भीतर लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति ज़ोर पकड़ती दिखाई देती है। सीता-हरण होने पर उसमें आत्मगौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्मगौरव और दाम्पत्य-प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट् मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्म-गौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के कालाग्नि-सदृश क्रोध में काव्य का वह लोकोत्तर सौन्दर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न बाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्त्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता, जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी—यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो—पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्त्तनवादी शेली के महाकाव्य The Revolt of Islam के नायिक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले,

गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता सहनशीलता और शान्तवृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्धक्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखण्ड, लोकपीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमाने वाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं। शेली ने भी काव्यकला का मूलतत्व प्रेमभाव ही माना था, पर अपने को सुखसौन्दर्यमय माधुर्यभाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्ध-क्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता पर विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष, दोनों उनमें पाये जाते हैं।

टाल्सटाय के मनुष्य-मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजनमात्र, हलकी रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर केवल पीड़ितों की सेवा सुश्रूषा की दौड़ धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर-प्रदर्शन, त्याग, कष्ट सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौन्दर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे "आध्यात्मिक शक्ति" कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति —मनुष्य की अन्तःप्रकृति की सात्विक विभूति—मानते हैं। विदेशी अर्थ मे इस 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र मे कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपो मे—दूसरे भावों की तह मे—अर्थात् अन्तस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाश

रूप में भी। हम पहले कह आये हैं कि लोक में मंगल-विधान की ओर प्रवृत्त करने वाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। यह भी दिखा आये हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचण्ड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुण-प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्त्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक—व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि तक—जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्य जी ने सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का प्रकाश करने वाली शक्ति को 'सन्धिनी' कहा है। व्यवहार में भी 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं—'जो वास्तव में हो', तथा 'अच्छा या शुभ'।

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त-स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे, तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द-कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और सब ओर वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्त्विक तेज के इस रूप में भासित होंगी। इसी से अवतार-रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्त्ति एक ओर तो 'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

१४–संदेश

[माननीय पुरुषोत्तमदास टंडन]

"साहित्य कानन के इस अंश मे बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं जहाँ नए-नए प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है। यह समय भारतवर्ष के लिए महा परिवर्तन और बड़े महत्व का है। यहा आपका अवसर है। मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते जब वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का मानसिक प्रवाह बदल दे। आपको बड़े सौभाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है। आप न केवल साहित्य-कानन के इस अंश के इन रिक्त स्थानों को ले सकते हैं, किन्तु यहाँ नितान्त नये नादों से विलव मचा सकते हैं। सब से पहली बात यह स्मरण रखिए कि यों तो इस बन में सभी तरह की मोहिनी ध्वनियाँ गूँज रही हैं, किन्तु वास्तविक आदर उन्हीं को मिलता है, जो अकृत्रिमता रूप से ब्रह्माण्ड के नैसर्गिक संगीत के स्वरों में मिलकर ध्वनित होती हैं। कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए। सूर्य सी नैसर्गिक ज्योति का सौंदर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखाई पड़ता है। हरे, लाल और पीले काँच के टुकड़ों की उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने काँच के टुकड़े भिन्न भिन्न रंगों से रंगें और उनको भिन्न भिन्न आभूषणों से भूपित करे, किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूपणों का तिरस्कार करती है। आभूपणो की आवश्यकता, कवियों के चलन के अनुसार भी, परकीया नायिका को ही अधिक होती है। स्वकीया सती का शृङ्गार आभूषणों पर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जौहर है—

पतिबरता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यौं दिपै, ज्यों रवि शशि की जोत॥

वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँध कर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से वाणी का उद्‌गार हुआ है। यदि वाणी ने मनुष्य को लुभाकर नीचे कीच में घसीट कर डाल दिया तो उसका सौंदर्य कुलटा का सौंदर्य है, जो भोग-लिप्सकों के हृदय को क्षण भर के लिए भले ही लुभा ले, किन्तु जो उच्च पुरुषों के सामने आदर नहीं पाता। आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृङ्गार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें। सुनारों के भड़कीले आभूषणों को दूर ही रखें। भारतवर्ष के इस परिवर्तन-काल में ऐसे उपासकों की आवश्यकता है जो अपनी वाणी से स्वतंत्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जङ्गल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकाल महा-शक्ति की मूर्ति जनता के हृदय में स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान करें। निस्सार नीचे गिराने वाले रसों और उन्हीं के समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़ दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त संचारी भावों से उनको सचरित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावों से उनका पोषण कीजिये और तब उनके परिणाम स्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-कानन में रिक्त स्थान हैं, वहाँ इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभा सम्पन्न आकाश-मार्ग-गामी कवियों की आवश्यकता है।"

१५—हिन्दी की उत्पत्ति

[डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी]

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतः सिद्ध

बात है। हर काम में अपने प्रति-दिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं। हिमालय के तुषारमंडित गिरिराजस्थित सरल, पीलू और चीर-वृक्ष की अरण्यावली से दक्षिण-समुद्र के पास कन्या-कुमारी और सेतुबंध-रामेश्वर के नारिकेल-कुञ्जों तक, आसाम और बर्मा के अतिवृष्टिसिक्त 'सेगुन' वन और हरिद्वर्ण धान्य क्षेत्रों से अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के दुर्गम वारिहीन मरु पर्वत तक, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम आसमुद्र हिमांचल समग्र भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिन्दी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन-शृङ्खला बनी है। यदि इसका कारण पूछा जाय, तो एक ही बात में हम इसका उत्तर दे सकते हैं। भारतीय सभ्यता का उत्पत्ति स्थान तथा केन्द्र गंगा और यमुना का तीरवर्ती देश आर्यावर्त्त ही है। आर्यावर्त्त के श्रेष्ठ अंश मध्य-देश की भाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रसार का पहला मुख्य कारण यही है कि हिन्दी भारत के हृदय-देश की भाषा है। दूसरा कारण है हिन्दी भाषियों की उद्यमशीलता। हिन्दी जितने लोगों की स्वाभाविक मातृभाषा या घरेलू भाषा है, उससे दूने चौगुने लोगों की शिक्षा, साहित्य और सामाजिक जीवन की भाषा बनी है। सहज जन्मगत अधिकार से पूर्व पंजाब, मध्य भारत और पछाँह के जो लोग हिन्दी बोलते हैं चाहे यह हिन्दी अपने विशुद्ध भारतीय रूप में हो, चाहे अपने मिश्रित मुसलमानी रूप उर्दू में—और पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार प्रान्त के जो लोग साहित्यिक और सामाजिक भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर उसे सब कामों में व्यवहार करते हैं; ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी जीविका की फिक्र में समग्र भारतवर्ष में फैले हुए हैं, और दूसरे प्रान्तों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन को आर्यावर्त के प्रभाव से इतना प्रभावान्वित कर रहे हैं कि साथ साथ आर्यावर्त्त की भाषा बिना प्रयत्न किये हुए भी सुप्रतिष्ठित हो गई है।

हिन्दी को यह उच्च स्थान स्वाभाविक कारणों से प्राप्त हुआ है। इसलिए जब तक आर्यावर्त्त भारत की संस्कृति का मूल स्थान रहेगा, तब तक हिन्दी का यह आसन नहीं मिटने का।

ऐतिहासिक और भाषातत्त्व की भी दृष्टि से अगर देखा जाय, तो हिन्दी की व्यापकता और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिए उसकी योग्यता सब लोगों को माननी पड़ेगी।

अन्धतिमिराच्छादित प्रागऐतिहासिक युग के अवसान के साथ जिस समय वैदिक युग के अरुणिमा-मंडित ज्योतिर्मय उषाकाल में भारतीय संस्कृति के सूर्य का उदय हुआ, उस समय हमारी हिन्दी बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की आदिजननी वैदिकभाषा भारत में श्रेष्ठभाषा थी। भारतीय आर्य लोगों की अपनी अपनी पृथक्-पृथक् बोलियाँ थीं पर वैदिक भाषा के सामने इनमें से किसी को कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वैदिकोत्तर अर्थात् संहितोत्तर काल में ब्राह्मण ग्रंथों का युग आया। पंजाब और मध्य देश के दक्षिण और पूर्व में आर्य-भाषा का फैलाव हुआ। स्वाभाविक परिवर्तन—धर्म के अनुसार, तथा हजारों और लाखों आर्यभाषियों के आर्यभाषा को ग्रहण करने के कारण वैदिक तथा ब्राह्मण युग की आर्यभाषा भी विशुद्ध नहीं रही, प्राकृतों का ऊद्भव होने लगा। भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही आदिम या प्राचीन आर्यभाषा प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था में पहुँच गई। इसी समय आर्यों के गुरुकुलों में लौकिक साहित्य-भाषा संस्कृत की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हुई। पाणिनी आदि बड़े-बड़े व्याकरणकार ऋषियों ने इसका व्याकरण लिख कर उसे चिरकाल के लिए परिमार्जित किया। प्राकृतों के ऊद्भव होने के समय से ही लौकिक संस्कृत प्राचीन भारत के जनगण की—विशेषतः ब्राह्मण शासित समाज की—भाषा हुई। मुहाविरे में विभिन्न प्रान्तों की आदि आर्यभाषाओं की प्रगति पृथक्-पृथक् रीति से होने लगी। इससे पृथक्-पृथक् प्रान्तीय प्राकृतों की उत्पत्ति

हुई। जिस संस्कृत भाषा को सारे हिन्दू संसार ने अपनी धार्मिक और संस्कृति संबधी भाषा मान लिया, उसका आधार उदीच्य अर्थात् पंजाब और मध्यदेश की लौकिक बोली ही थी। भगवान् बुद्धदेव के पहले, ब्राह्मण ग्रन्थों के युग में, ब्राह्मण-सभ्यता का केन्द्र मध्यदेश अर्थात् कुरुपंचाल देश और उदीच्य अर्थात् मद्र, केकय, गंधार आदि देश थे। उन प्रान्तों में तथा अंतर्वेद की ब्राह्मणादि शिष्ट जातियों में व्यवहृत भाषा यह संस्कृत थी। अस्तु, संस्कृत आर्यसभ्यता का वाहन या माध्यम स्वरूप होकर इस सभ्यता के साथ तमाम भारतवर्ष में फैली, और भारतवर्ष के बाहर बृहत्तर भारत में बर्मा, श्याम, कम्बोज, चंपा मलयद्वीप, नवद्वीप, बलि-द्वीप आदि में भी इसका प्रसार पहुँचा। भारतवर्ष के इतिहास के प्रारंभ में आर्यावर्त—मध्यप्रदेश अर्थात् हिन्दुस्थान के पछाँह की बोली सस्कृत के रूप में सारे भारतवर्ष में गृहीत हो गई। यहाँ तक पता चलता है कि संस्कृत का मौखिक रूप सिर्फ पंजाब और अंतर्वेद में ही प्रचलित था। कुछ दिनों बाद अन्यान्य प्रान्तों मे जब आर्यभाषा फैली, तब इसकी अवस्था बदल गई थी। संस्कृत प्राकृत हो गई थी।

सारे उत्तरभारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों में अंतर्वेद—विशेषतया ब्रह्मर्षि देश या कुरुपंचाल की—प्राकृत शौरसेनी सर्वश्रेष्ठ भाषाएँ मानी जाती थी। सस्कृत नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र वात करने में इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृत युग में शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने में महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है, इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय प्राकृत में स्वर बहुत होने से वह शौरसेनी से श्रुति-मधुर मानी जाती थी और गाने में इसी लिये शायद लोग इसे ज्यादा पसंद करते थे।

महाराज अशोक के लेख में मुख्यतः तीन प्रकार की प्राकृत मिली

है—उदीच्य, लाटदेशीय और प्राच्य। परंतु मध्यदेशीय प्राकृत नहीं मिली। मध्य-देश में टोपरा और मेरठ के दो खंभों पर जो लेख हैं, उनमें पूरब की बोली ही व्यवहार की गई है। महाराज अशोक पूरब के रहने वाले थे; शायद इसी से उनकी प्रान्तिक बोली मध्यप्रदेश में भी प्रयुक्त हुई। भारत के इतिहास में सिर्फ एक ही बार पूरब की बोली ने पछाँह पर चढ़ाई की।

परंतु महाराज अशोक के समय में एक नई साहित्यिक भाषा भारत से सिंहल में फैली। यह पाली भाषा है। पहले पंडित लोग सोचते थे कि पाली की जड़ पूरब में—मगध में—थी, क्योंकि इसका एक और नाम है 'मागधी'। अब पाली के संबंध में पंडितों की राय बदल रही है। अब विचार है कि पाली पूरब की नहीं, बल्कि पछाँह की—मध्य देशी की ही बोली थी—शौर सेनी प्राकृत का एक प्राचीन रूप-भेद थी। बुद्धदेव के उपदेश पूरब की बोली प्राच्य प्राकृत में, जो कोसल, कादरी और मगध में प्रचलित थी, में प्रकट हुए। फिर इस प्राच्य प्राकृत से और दूसरी प्राकृतों में अनुवादित किये गये। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया "पाली"। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहाँ के लोग भूल से इसे 'मागधी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पाली बुद्ध-वचन थी, भगवान् बुद्ध-ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया था, इससे बुद्ध-वचन या पाली से मगध का संबंध सोचकर 'मागधी' नाम रखा गया। सिंहल से ब्रह्मदेश, श्याम और कम्बोज में यह पाली भाषा फैली। इस प्रकार दो हज़ार वर्ष के पहले मध्य-देश की भाषा जिसे हम हिन्दी का एक प्राचीन रूप कह सकते हैं—वहि भारत के बौद्धों की धार्मिक भाषा बनी। यह बात इस युग के पहले की है। ईसंवी सदी के आरंभ से संस्कृत के बाद उत्तर में शौरसेनी भद्र समाज में बोली जाती थी। इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत बोलियों पर भी पड़ा। भाषातत्व के विचार से ग्रियर्सन

आदि पंडितों ने राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया। सिर्फ प्रान्तिक प्राकृतों से इन बोलियों की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा विचार होता है।

ईस्वी प्रथम सहस्त्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत का एक रूप थी। अपभ्रंश भाषा—शौरसेनी अपभ्रंश—पंजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्ट भाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईसवी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रश का प्रचार-काल था। गुजरात और राजपूताने के जैनों के द्वारा इसमें एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्यगण इसमें पद रचते थे जो अंत में भोट भापा (तिब्बती) में उल्था किये गये। इसके अलावा भारत में इस अपभ्रंश में एक विराट् लोक-साहित्य बना, जिसके टूटे-फूटे पद और गीत आदि हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण और प्राकृत पिंगल नामक छंद-ग्रंथ में पाये जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईस्वी प्रथम सहस्त्रक की अंतिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्य-देश और उससे संलग्न प्रान्तों में—आधुनिक पछाँह में—साधारणतः घरेलू भाषा के रूप में इस्तेमाल होती थी। द्वितीय कारण यह है कि इस समय गोरखपंथी आदि अनेक हिन्दू संप्रदाय के गुरु लोग जो पजाब और हिन्दुस्तान से नव-जाग्रत हिन्दूधर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गये, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर भारत के कनौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश में ब्राह्मण-आचार और संस्कृति ले

उपनिविष्ट हुए। इन सब कारणों से, आज से लगभग एक हजार साल आगे, जिसे हम हिन्दी का पूर्व रूप कह सकते हैं, वही शौर-सेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा हुई थी।

संस्कृत, प्राकृत और भाषा—भारत की आर्यभाषा के क्रम-विकास में ये तीन पीढ़ियाँ हैं। संस्कृत आदियुग की धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषा थी। यह संस्कृत भाषा पंजाब और मध्य-देश की प्राचीन बोली के आधार पर बनी। संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। प्राकृतों में पाली भी है। पाली भाषा मगध से संबंध नहीं रखती, परंतु शूरसेन या मथुरा और उज्जैन से रखती है। यह मूलतः मध्य-देश ही की भाषा है। आजकल पंडित लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। पाली के बाद मध्यदेश की शौरसेनी भाषा थी। प्राकृत का अंतिम रूप था अपभ्रंश, वही अपभ्रश बदलती हुई हिन्दी आदि भाषाओं में परिणत हो गई। जिस समय शौरसेनी अपभ्रंश परिवर्तित होकर ब्रजभाषा (हिन्दी) बन रही थी, उसी समय हिन्दुस्तान में तुर्क और ईरानी मुसलमान आये। पहले पंजाब में इनका अधिकार हुआ, और पंजाब ही में करीब सौ वर्ष उन लोगों ने राज किया। पंजाब के कुछ लोग मुसलमान बने। फिर पंजाब से खास हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई और उनकी फतह हुई। मुसलमान देहली में आये, और उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। अफगानिस्तान के तुर्की और फार्सी बोलने वाले विदेशी मुसलमान तो थे ही, पर पजाबी बोलने वाले देशी मुसलमान भी इधर ज्यादा करके आने लगे। पंजाब की बोलियों का मूल शौर-सेनी से कुछ अलग प्राकृत थी, प्ररन्तु शौरसेनी का प्रभाव इन पर बहुत पड़ा। पंजाब में राज करने वाले विदेशी मुसलमान थोड़ी-बहुत पंजाबी जानते थे। देहली के आस-पास कई पड़ी बोलियाँ प्रचलित थीं, और उनका पंजाबी से कुछ संयोग था। हिन्दुस्तान में आकर पजाबी पर जाटू (बाँगरू), मेवाड़ी, ब्रजभाषा प्रभृति बोलियों का

असर कुछ तो अवश्य पड़ा। प्राचीन पंजाबी का आदिम रूप देहली में कुछ बदल गया। भाषा के व्याकरण में बहुत सा पंजाबीपन रह गया, परन्तु स्थानीय बोली के व्याकरण के अनुसार भी रूप आ गए। भाषा को हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम मिला। शब्द विशेष करके व्रज आदि प्रान्तिक भाषाओं के लिये जाने लगे। इस प्रकार उदीच्य और मध्यदेश अर्थात् पंजाब और हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रान्त की भाषाएँ मिल कर एक नवीन रूप में प्रकट हुईं। साधारणतः हिन्दुस्तानी मुगलों की बदौलत सारे भारतवर्ष में फैल गई। व्रजभाषा आदि प्राचीन और साहित्यिक बोलियों के साथ-साथ यह भाषा हिन्दू साहित्य में भी व्यवहार होने लगी। अंत में इस कलकत्ते शहर में अंग्रेज पंडितों की चेष्टा से गद्य साहित्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही हो गई। इस समय हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है—उत्तर भारत की संस्कृति मूलक प्रगति का, एक प्रधान वाहन या साधन या माध्यम बन कर इस भाषा की जय सर्वत्र हो रही है।

ऐतिहासिक आलोचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्य-देश— पंजाब और पछाँह—विशेष करके मध्य-देश में —भारतीय आर्य सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं, और इन प्रान्तों की भाषा युग-युग में सर्वजन गृहीत और सर्वजन समादृत हुई। संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, व्रजभाषा; फिर शौरसेनी प्रभावयुक्त पंजाबी बोली, हिन्दुस्तान मे आकर शौरसेनी की दुहिता स्थानीय व्रज आदि बोलियों से मिल-जुल कर हिन्दुस्तानी या हिन्दी बनी। इस प्रकार हिन्दी को वर्तमान मर्यादा मिली। मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा भारत के इतिहास की एक प्रधान और साधारण बात है। काल की गति से मूल आर्यभाषा ने संस्कृत, पाली, शौरसेनी अपभ्रंश इत्यादि से बदलते-बदलते आखिर हिन्दी का रूप ग्रहण किया।

प्राचीनकाल में भारतीय-सभ्यता-विशिष्ट वस्तुएँ यानी हिन्दू-

सभ्यता में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं उन सबका उद्भव आर्यावर्त ही में हुआ। मध्यकाल में जब मुसलमान सभ्यता आई, तब हिन्दू-सभ्यता से उसका मिश्रण आर्यावर्त में हुआ। आर्यावर्त की भाषा हिन्दी में अरबी, फारसी और तुर्की का शब्द-भंडार इस मिश्रण का फल है। इस मिश्रण से भारतीय-सभ्यता ने नवीन रूप पाया।

प्राचीनकाल के धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषाओं के साथ हिन्दी का सम्बन्ध विचार करने से हिन्दी का इतना प्रचार स्वाभाविक ही मालूम होगा। ऐतिहासिक कारण और हिन्दी भाषा की नानामुखी कर्मशक्ति के सिवा हिन्दी में ऐसे कुछ गुण हैं, जिनसे यह एक श्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, जिन्होंने इस भाषा को अपनाया है उनकी राय क्या होगी, इसका पता हमें नहीं; पर एक महाराष्ट्रीय मित्र ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की कि ' हिन्दी में जो गुण हैं, उनमें से एक यह है कि हिन्दी 'मर्दानी ज़बान' है।" मैं बंगाली होकर अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ। आधुनिक हिन्दी के ओज गुण के कई कारणों में इसकी संयुक्त व्यंजन बाहुल्यता एक प्रधान कारण है। 'उनको' 'देखके, 'चलता' 'हाथ में', 'मन में' इत्यादि साधारण पद में संयुक्त वर्ण से शब्दोच्चारण में ज़ोर आ जाता है—शब्द पर धक्का-सा देकर संयुक्त ध्वनि इसे जाग्रत और उद्यमपूर्ण बना देती है। मेरी मातृभाषा के पद-समूह इतने ज़ोरदार नहीं होते। विशेषकर साहित्यिक बंगला स्वर बाहुल्य के कारण मिठास आती है, पर वैसा ज़ोर नहीं रहता, जैसे 'उहार' या 'ओक', देखिया' या 'देखे' 'चलिते छे' (चालू घरेलू बगला में संयुक्त व्यंजन आ गया है—'चल छे') 'हाते' 'मने' इत्यादि। पुरानी हिन्दी में हलंत उच्चारण बहुत ही कम होता था, सब स्वर वर्ण उच्चारण किये जाते थे। इससे ओजशक्ति कुछ कम होती थी। पर स्वर वर्ण के पूर्ण उच्चारण होने के कारण एक मनोहर मधुरता से भरा हुआ गाम्भीर्य आ जाता था।

विशेषत: ध्रुपद आदि गाने में तानसेन प्रमुख संगीतकारों की वाणी से इस बात का प्रमाण मिलेगा। हिन्दी उच्चारण में और एक विशेष गुण है। इसमें सब ध्वनि प्रयत्न के साथ सुस्पष्ट उच्चारण की जाती है। बॅगला आदि दूसरी भाषाओं मे बहुधा अस्पष्ट उच्चारण की कुरीति चली है। इसी से 'नाइहर' या 'नैहर' 'बहनोई', 'अखाड़ा', बनवाई', कन्हैया', रखवाल'. 'मौसी' 'सौंप' आदि शब्द के बॅगला प्रतिरूप बन गये हैं। नायेर', बोनाई', 'आखड़ा', 'बानी', 'कानाई'. 'राखाल', 'मासी', 'संप' इत्यादि।

उच्चारण के अलावा हिन्दी की शब्द-संपत्ति इसका एक और गुण है। प्राकृत के प्राप्त अनगिने शब्द हिन्दी में विद्यमान हैं, मानो इतने प्राकृतज शब्दों का संरक्षण दूसरी किसी आर्यभाषा में हो ही नहीं सका। देहात मे सहस्रों उपयोगी प्राकृत शब्द मिल सकते हैं, जो साहित्य मे लाने लायक हैं। प्राकृतज शब्द छोड़िये तो देखिये हिन्दी संस्कृत के समग्र अभिधान की अधिकारिणी बनी है। संस्कृत शब्दों को हम सम्भाव्य हिन्दी की बदौलत फारसी अरबी-अभिधान से भी हिन्दी अपना ख़ज़ाना अदा कर सकती है। प्राकृतज या विशुद्ध हिन्दी, सस्कृत और फारसी—इन तीन प्रकार के शब्दों की मिठास या मिष्टता या शीरीनी हिन्दी की शक्ति तथा गौरव बढ़ा रही है। संस्कृत फारसी के शब्द-भंडार हिन्दी के लिए खुले रहने से हिन्दी किसी की परवा नहीं करती। सामाजिक और गृहस्थ जीवन की सब बातें केवल प्राकृतज शब्द से ही हिन्दी में अच्छी तरह से बोली जा सकती हैं। यह सिद्धांत 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' में श्री हरिऔध जी ने प्रमाणित किया है।

हिन्दी के इतने गुण होते हुए भी, इसे मातृभाषा रूप में लाभ करने का जन्म सौभाग्य जिसको नहीं मिला उसके लिये हिन्दी का व्याकरण कठिनाइयों से भरा हुआ होता है। एक तो मुश्किल है हिन्दी का लिंग-विचार। सुनते हैं इसमें श्रेष्ठ हिन्दी विद्वानों

का भी एकमत नहीं होता। हिन्दी की इस स्वतन्त्रता ने इस विषय में भाषा को अराजकता में डाल दिया है। 'भात' पुल्लिग शब्द है और 'दाल' स्त्रीलिंग, 'पुस्तक' स्त्रीलिंग और 'ग्रंथ' और कागज़' पुल्लिंग। 'अग्नि, मृत्यु, वायु'—इन सबको इस कलियुग में हिन्दी में स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है। हिन्दी अच्छी तरह से अगर सीखना चाहते हैं तो संस्कृत व्याकरण को भूल जाइये। इसके ऊपर शब्द रूप में, मौलिक रूप में और सामान्य रूप, और 'का' और 'के' का दुरतिक्रमणीय हंगामा। लिंग-विभ्राट और शब्द रूप की कठिनाई से बेचारे हिन्दी-शिक्षार्थी जब किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं, तब क्रियापद के कर्मणि और भावे-प्रयोग आकर उसे खतम कर देते हैं।

हिन्दी के व्याकरण को कुछ सहज-सा और तर्कशास्त्र-सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धांत यह है कि भविष्य काल का राजा King Demos या 'गण महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। 'इनकलाब' जब सचमुच जिन्दा होगा और मज़दूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम खुद ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बाज़ारू, गवाँरू और देहाती तथा खड़ी बोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नई गणभाषा बन जायगी।

गणतन्त्र के अनुकूल हिन्दी का एक रूप अब भी विद्यमान है। इस कलकत्ता महानगरी में नई शैली के हिन्दी गद्य-साहित्य का पहले प्रचार हुआ, पर यहाँ अनपढ़ लोग जो हिन्दी बोलते हैं, उसे हिन्दी के गणतांत्रिक रूप के सिवा क्या कहूँ? कलकतिया बंगाली दो जबानें जानते हैं; एक अपनी मादरी जबान बँगला, और दूसरी कलकत्ते की बाजारू हिन्दी। बचपन से अपनी मातृ-भाषा के साथ-साथ हमें इसका व्यवहार करना पड़ता है। मैं इस टूटी-फूटी हिन्दी के स्वरूप की कुछ आलोचना किसी और सभा में कर चुका हूँ। इस स्वरूप की मौलिक विशेषता यह है कि

व्याकरण के नियम, शब्द-धातु आदि के रूप, प्रत्यय प्रभृति जितने कम व्यवहार किये जा सकें सिर्फ़ उतने ही व्यवहार में लाये जायँ और स्वतंत्रता-पूर्वक बँगला शब्द और वाक्य-रीति का प्रयोग हो। इस कलकतिया हिन्दी को कलकत्ते की उड़िया, मैथिल, विहारी आदि सब प्रवासियों ने अपनाया है; क्योंकि इन्हीं के हाथ शुद्ध हिन्दी बिगड़कर इसका सगठन हुआ। सीखने से भूलना अधिक कठिन है। इधर शुद्ध हिन्दी के साथ परिचय होने का मौका नहीं मिलता, उधर ज़िंदगी-भर बाज़ारू हिन्दी के सिवा इनका काम नहीं चलता,—हम करें क्या ?

हिन्दी की उत्पत्ति और प्रसार तथा उसके प्रादेशिक रूप आदि विषयों पर गवेपणात्मक विराट् ग्रंथ लिखा जा सकता है। मैं इस बारे में और कुछ कहना नहीं चाहता। अंत में एक बात कहकर इसे समाप्त करूँगा।

जिसकी शक्ति और जिसका सौभाग्य हो उसे नम्र होना चाहिए। हिन्दी भाषियों के उद्यम कर्मशीलता ही नही, बल्कि उनकी नागरिकता और सौजन्य, उनकी संस्कृति और मानसिक उत्कर्ष हिन्दी-प्रचार के प्रबल कारणो में हैं। भारत के लोगों ने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' मान लिया है; बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल इत्यादि घरेलू भाषा या प्रादेशिक भाषा हो सकती है; पर एकता-विधायिनी भाषा और भारत के संयुक्त राष्ट्र की माध्यम हिन्दी ही हो सकती है, इसे आज अधिकांश लोग मानते हैं। शुद्ध हिन्दी बोलना सहज नहीं, रातोंरात शुद्ध हिन्दी सीखना भी कठिन है। बहुत-से लोग टूटी-फूटी बोलने में शरमाते हैं। अशक्यता हेतु यदि कोई किसी राष्ट्र या धर्म-सम्बन्धिनी सभा में हिन्दी में व्याख्यान न दे सके, पर हिन्दी से अपना प्रेम प्रकाश करे, तो उससे धैर्य के साथ व्यवहार करना उचित होगा, और यह गंगातीर की आर्यसभ्यता के सौजन्य के अनुसार ही है। पर ऐसी अवस्था में 'हिन्दी'-'हिन्दी' पुकार कर बेचारे को यदि

तंग किया जाय, और उसे अंग्रेज़ी में या अन्य किसी प्रान्तिक भाषा में बोलने न दिया जाय तो वह हिन्दी के प्रचार के अनुकूल नहीं बल्कि विपरीत होगा। हमें आत्म-परीक्षा करनी चाहिए। अनजान से भाषागत साम्राज्यवाद Linguistic Imperialism के पुरोहित हम न बनें—ज़ुल्म या बलात्कार से हिन्दी प्रचार की चेष्टा नहीं होनी चाहिए।

खैर, हिन्दी में जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों; पर यह सबको मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दर्जे की अन्तर्जातीय भाषाओं में हिन्दी का स्थान है। अंग्रेजी, उत्तर चीनी, जर्मन, रूस, स्पेनिश फरांसी, अरबी, फ़ारसी, मालय आदि भाषाओं में हिन्दी का नाम करना चाहिए। सख्या के विचार से अंग्रेज़ी और उत्तर चीनी के नीचे हिन्दी का स्थान है; श्रुति-माधुर्य और कार्यशक्ति आदि में हिन्दी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरवस्थल है।

मैं हिन्दी से बड़ा प्रेम रखता हूँ। यूरोप-प्रवास के समय फ्रांस या जर्मनी में कहीं किसी भारतीय छात्र को दूर से मैं देखता, तो उससे मिलने जाता और सबसे पहले हिन्दी में उससे प्रश्न करता, क्या भाई, हिन्दुस्थानी हो? जिससे बात करता, अगर वह उत्तर भारतीय होता, तो हिन्दी ही में मुझसे बात करता, और यदि वह दक्षिणी होता, तो भाव से मेरी बात समझ लेता और यदि हिन्दी नहीं जानता तो अंग्रेजी में माफी माँगता। अपने मित्र और छात्रों में मैं हिन्दी भाषा और साहित्य का गुण-गान किया करता हूँ। कबीर जी के पद और तुलसीजी की रामायण को तो मैंने नित्य का पाठ्य-ग्रन्थ सा बना रखा है। बहुत दिनों से इन दोनों विश्व-साहित्य के मुकुट-मणियों का पाठ किया करता हूँ।

बँगाल में हिन्दी का प्रचार हो, बँगाली सज्जन भी हिन्दी भाषा और साहित्य से परिचय प्राप्त कर पार्थिव और आध्यात्मिक लाभ उठावें, यह मैं सर्वान्तःकरण से चाहता हूँ। बँगाल की राजधानी

कलकत्ते से हिन्दी का संयोग घनिष्ट है। यदि कलकत्ते को हिन्दी की आधुनिक गद्य शैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमारी बँगाली जाति के लिए यह बड़े अफसोस की बात है कि हिन्दी ऐसी भाषा से वे यथोचित शक्ति और आनन्द को प्राप्त नहीं कर सके। इसके कारण निर्धारण होने चाहिए। रोग का निदान और कारण मिलने से इलाज ठीक हो सकता है। एक कारण मेरे विचार में तो यह है कि इधर हिन्दी के उच्च शिक्षित सज्जनों का बहुत कम शुभागमन होता है। बिहार और संयुक्त प्रान्त के पूरब के जो आम लोग रोजी के लिए इधर आते हैं, वे स्वयं शुद्ध हिन्दी नहीं बोल सकते,—उनकी व्यवहृत खिचड़ी बोली, साहित्यिक और शुद्ध हिन्दी के प्रचार का प्रधान अन्तराय होता है।

पर अवसर अब शुभ है। बँगाल की शिक्षित जनता में हिन्दी का आदर होने के लिए कांग्रेस से मदद मिल सकती है। कालेजों से भी बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। निर्दिष्ट हिन्दी परीक्षा में उत्तीर्ण होने से यदि दस-बीस आर्थिक पारितोषिक कालेजों के लड़कों को दिये जायँ, तो बहुत से नवयुवक इस ओर आकृष्ट होंगे। हिन्दी प्रचार के सब साधन विशेष समिति में विचार किये जा सकते हैं। बँगाल में हिन्दी प्रचार के लिए सम्मेलन की ओर से जो प्रयत्न किया जाय उसका मैं पूरी तौर से समर्थन करूँगा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इस विषय में जो शुभ कामना प्रकट की, उसके लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ।

१६—नृत्य

[श्री एन० सी० मेहता]

[दुर्गा-पूजा के अवसर पर अल्मोड़े में उदयशंकर के "भारतीय संस्कृति केन्द्र" ने एक नृत्य-संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया था। उस अवसर पर यह भाषण दिया गया था।]

मैं यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि मैं इस समारोह में बालक जैसी आशा और उमंग लेकर उपस्थित हुआ हूँ। कदाचित् इसका कारण आधुनिक जीवन के बंधनों से थोड़े समय के लिए मुक्ति प्राप्त कर प्रकृति की गोद में विश्राम पाने की इच्छा हो। मैं इसे अपने लिए सौभाग्य का ही विषय समझता हूँ कि मुझे इस समारोह में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण मिला और मैं हिमालय के इस रमणीय स्थल में उपस्थित हो सका। नृत्य तथा संगीत के समारोह के लिए यह कैसा सुन्दर तथा समुचित स्थान है! यहाँ का दृश्य देखकर उस अमृत मंथनवाले नृत्य का स्मरण हो आता है, जिसका भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में उल्लेख किया है। इस नृत्य के निर्देशक स्वयं ब्रह्मा जी थे और हिमालय की पर्वत-श्रेणियों तथा कलकल-निनादकारी स्रोतों के मध्य रमणीक स्थल में इसकी आयोजना हुई थी। महादेव जी ने इस नृत्य से प्रसन्न होकर कहा था कि यह नृत्य सुन्दर, पवित्र तथा कल्याणकारी है और मैं भी अपने नृत्य के समय इसे स्मरण करता रहूँगा।

यह भी प्रसन्नता की बात है कि उदयशंकर तथा उनके केन्द्र ने जनता के उत्सवों तथा त्योहारों को इस भाँति अपना लिया है। कलाकारों की प्रेरणा का उद्गम सदा जनता का जीवन ही रहा है। हमारे लिए संगीत तथा नृत्य को उसकी पृष्ठ-भूमि से पृथक् कर सकना संभव नहीं है। हमारी भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि हमारे जीवन के सभी कार्य देवार्पित रहे हैं। इसलिए हमारे महान् गायकों, नर्तकों तथा संगीतज्ञों ने जनता के जीवन से ही अपनी कला के लिए प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। भक्तगण जो भजन गाते हैं उन्होंने एक ओर साहित्य-प्रेमियों के लिए साहित्य का और दूसरी ओर धर्मप्राण व्यक्तियों के लिए धार्मिक शिक्षा का कार्य किया है। विजयादशमी जैसे उत्सवों के अवसरों पर हमारी जाति की उच्चतम तथा पवित्रतम

भावनाओं का प्रकटीकरण होना चाहिए और इसलिए उदयशंकर का इन उत्सवों में अनुराग प्रकट करना प्रसन्नता की बात है। कुछ समय से हमारे शिक्षित वर्ग ने हमारे जातीय उत्सवों में समुचित भाग लेना छोड़ दिया है और वे साधारण लोगों के मनोविनोद के असंस्कृत साधन बनते जा रहे हैं। वास्तव मे ये ऐसे अवसर हैं जब कि जनता और कलाकार एक दूसरे के सम्पर्क में आकर एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं और दोनों मिलकर देवार्चना कर सकते हैं। इन उत्सवों में आमोद-प्रमोद तथा जीवन की गहन बातों का सुन्दर सम्मिश्रण है; इनमें विभिन्न वर्गो तथा अवस्थाओं के व्यक्तियों के लिए स्थान है, इसलिए शिक्षितों का इनके प्रति उदासीन होना खेद की ही बात है। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्सवों का बड़ा महत्व है, जिसकी बहुधा उपेक्षा की जाती है। विशेषतः वर्तमान समय के नागरिक जीवन में अवकाश के समय को बुद्धिसत्ता-पूर्वक तथा लाभदायक ढंग से व्यतीत करना एक कठिन कार्य वन जाने के कारण, यह उपेक्षा और भी बढ़ गई है।

रंगमंच का अन्त हुआ जा रहा है और उसका स्थान सवाक चित्र ले रहे हैं। परन्तु पुरातन प्रणाली के नाट्य ने अपने लिए एक ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया है जिसकी कुछ ही वर्ष पूर्व कोई आशा नही की जा सकती थी। यह एक आशाजनक चिह्न है। नाट्य में केवल नृत्य ही नहीं, संगीत भी सम्मिलित है। हमारे सामंजस्य-प्रेमी पूर्वजों ने जातीय उत्सवों की बड़े व्यापक दृष्टिकोण से कल्पना की थी। रामलीला में भी पहले हमारे यहाँ 'स्वाँग' हुआ करते थे और इनका इतिहास काफी पुराना है। सातवीं शताब्दी के एक ग्रंथ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि काशी के एक कुशल नर्तक-दल ने श्री हर्षवर्द्धन की "रत्नावली" का अभिनय किया था। भारत के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागों में इन स्वाँगों की परम्परा प्रचलित थी। इतना ही नहीं, ये भारत की सीमा का भी अतिक्रमण कर गये थे और अपनी उसी सज-धज तथा कला

के साथ आज भी सुदूर बाली तथा जावा में दिखाई पड़ते हैं। इनकी यह एक विशेषता रही है कि लोकप्रसिद्ध कथाओं को लेकर उनके द्वारा शाश्वत सत्यों का प्रदर्शन किया गया है और साधारण जनता को उपदेश दिया गया है। दो सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी इनका जनता के मस्तिष्क तथा हृदय पर वही पहले जैसा प्रभाव बना हुआ है। निस्सन्देह बदलती हुई परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इनमें परिवर्त्तन भी हुए हैं, परन्तु इनका ढाँचा वही बना हुआ है और कथायें भी वही हैं।

इन नृत्य-संगीतपूर्ण उत्सवों की एक और विशेषता भी है। इनमें कोरे कलाविदों के लिए स्थान नहीं है। कलाकार को अपनी सारी कला जनता के सम्मुख इस प्रकार रख देनी पड़ती है कि वह भी उसका आनन्द ले सके। कलाकार ने जीवन भर परिश्रम-पूर्वक अभ्यास करके जो कला प्राप्त की है उसका युगयुग से चली आनेवाली कथाओं के अभिनय में इस प्रकार उपयोग करना पड़ता है कि साधारण जनता उसे समझ सके। यह बात उस देश में कठिन नहीं है जहाँ कवितायें गाकर पढ़ी जाती हैं और जहाँ गानों में उनके शब्द भी अपना महत्त्व रखते हैं, गान-विद्या की शास्त्रीय जटिलताओं के बीच अपना अस्तित्व नहीं खो बैठते। इसलिए हमारे यहाँ सगीत में लय की अपेक्षा छंद का, वाद्य-यंत्रों की अपेक्षा गायक के स्वर का और सामूहिक की अपेक्षा वैयक्तिक संगीत का अधिक महत्त्व है। गायक का स्थान सर्वोपरि है। परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि गायक प्रायः कला की शास्त्रीय जटिलताओं से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते, जिसका परिणाम यह होता है कि वे बहुसंख्यक जनता के बजाय अल्प-संख्यक संगीत प्रेमियों को ही प्रभावित कर पाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें अपने देश के मध्यकालीन सत-महात्माओं तथा गायकों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिन्होंने काव्य तथा संगीत का अद्भुत समन्वय कर दिखाया था। संगीत की उन्नति के लिए यह आवश्यक नहीं

कि हम उसकी सभी प्राचीन परम्पराओं को उनके विशुद्ध रूप में पुनर्जीवित कर सकें। जीवन इतना अल्प है कि हम उसे भूतकाल के वातावरण ही में समाप्त नहीं कर सकते। मानव की वर्तमान-कालीन आवश्यकताओ की ओर ध्यान देना भी ज़रूरी होता है। भारतीय संगीत में राग-रागनियों की जो विशाल विविधता है, उसमें कुछ कमी होना अनिवार्य है और कुछ भेद-उपभेदो को मिटाकर सरलता लाना आवश्यक है। आखिर मनुष्य गाता क्यों है ? क्योंकि गाने में स्वाभाविक आनन्द है और वह गाये बिना रह नहीं सकता। और जब यह बात है तो उसे मृतप्राय बन्धनों में जकड़कर नहीं रखा जा सकता। जो संगीत जनता की नैसर्गिक और निकट आवश्यकताओं तथा भावनाओं पर अवलम्बित नहीं है, वह वास्तव में संगीत नहीं है। भाषा जिस प्रकार बोली जाती है उसी के अनुकूल उसके व्याकरण के नियमों में परिवर्त्तन होता रहता है। यही बात संगीत के सम्बन्ध में भी सत्य है।

यह भविष्य के लिए एक शुभ लक्षण है कि कम से कम बँगाल मे तो उस बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न-कलाकार, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वग-जनता को प्राचीन की दासता से मुक्त कर दिया है। उनके सुन्दर गीत जिस नवीन संगीत तथा लय के साथ गाये जाते हैं उसे सीखने के लिए दीर्घकालीन कठोर अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योकि मनुष्य में सगीत के प्रति एक स्वाभाविक प्रेम है और उसे उसका प्रकटीकरण करने से केवल इस कारण नहीं रोका जा सकता कि उसने संगीत-विद्या के सिद्धान्तो और नियमों की चिरकाल तक शिक्षा नहीं प्राप्त की है। आखिर मनुष्य इसीलिए तो गाता है कि वह गाये बिना रह ही नहीं सकता। इस प्रेरणा का दमन कैसे सम्भव है ? यहाँ मै स्ट्रैंगवे की "हिन्दुस्तान का संगीत" नामक पुस्तक से एक अवतरण देना चाहता हूँ। यह पुस्तक पुरानी होते हुए भी अभी तक उपयोगी बनी हुई है।

"कला प्रकटीकरण है। वह इस कार्य के लिए शब्द और स्वर ढूँढ़ निकालती है। वह एक ऐसी अनुभूति उपस्थित कर देती है जिसका पहले अस्तित्व नहीं था। वह हमारा पहले से उपस्थित अनुभूति से परिचय नहीं कराती। कला केवल भावावेष की स्थिति का प्रकटीकरण करती है, विभिन्न भावनाओं का नहीं। यह बात नहीं कि शब्दों तथा स्वरों के द्वारा विभिन्न भावनाओं का आविष्कार सम्भव नहीं, परन्तु ऐसा करते ही फिर वह कला-कृति नहीं रह जाती। यदि संगीत हृदय की भावना 'का अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से अनुभवगत कर सकता है तो इसका कारण यही है कि प्रकटीकरण का क्षण उपस्थित होने पर ध्येय और उसके साधन के बीच, विषय और माध्यम के बीच, अन्तर नहीं रह जाता; दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

.........दूसरी ओर भारतीय संगीत पूर्णत: मुक्त होकर भी अपने को नहीं खो बैठता। चूँकि वाद्य-यंत्र की अपेक्षा गायक के गले का महत्त्व अधिक है, वह मनुष्य की उन आवश्यकताओं से बहुत दूर नहीं जाता जिनके कारण गीतों के रूप में संगीत का जन्म हुआ था और जिनकी पूर्ति के लिए ही, संगीत विद्या की इतनी शास्त्रीय उन्नति हो जाने पर भी, आज भी उसका अस्तित्व है।"

अब मैं दो शब्द अपने देश के धर्मप्राण श्रीमानों से भी कहना चाहता हूँ। शताब्दियों से उनके दान की उदार धारा अप्रतिहत रूप से प्रवाहित रही है। इस उदारता के फल-स्वरूप देवालयों, पाठशालाओं, धर्मशालाओं और सरोवरों का निर्माण होता रहा है और अब भी हो रहा है। परन्तु नृत्य तथा संगीत की उन्नति के लिए दिया गया कोई बड़ा दान मेरी जानकारी में नहीं आया है, यद्यपि ये दोनों ही कलायें अनादिकाल से परम पिता की सेवा में समर्पित होती रही हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि विभिन्न अवसरों पर संस्कार तथा कृत्य कराने वाले पंडितों और पुरोहितों की तो

हमारे यहाँ कमी नहीं है; परन्तु देव-सेवा में अर्पित नृत्य और संगीत, देवालयों के कार्य-कलाप के आवश्यक अंग होते हुए भी, समुचित प्रोत्साहन प्राप्त न होने के कारण पतनशील हो रहे हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि हमारे श्रीमानों ने इस बात को नहीं समझा है कि हमारे धार्मिक कृत्यों तथा अनुष्ठानों में नृत्य तथा संगीत का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि यह बात न होती तो जिन कलाओं का हमारे देश के भक्तगण की जीवनचर्या तथा शिक्षा में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, उनकी ऐसी उपेक्षा तथा अवहेलना किस प्रकार सम्भव हो सकती थी? खालसा-पंथ जैसे आडम्बर-हीन सम्प्रदाय ने भी अपनी शिक्षा का संतबानी—अर्थात् ग्रंथ साहब के भजनों—के द्वारा ही प्रचार किया है। इसलिए क्या यह उचित न होगा कि दान का विभिन्न क्षेत्रों में विभाजन करने के सम्बन्ध में अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण से काम लिया जाय? अगर पुश्त-दर-पुश्त संगीत-कला की उपासना करनेवाले और इसी आराधना में अपना जीवन खपा देनेवाले संगीतज्ञों को समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता, उन्हें केवल मनोरंजन का साधन समझता है, और उन्हें निर्धनतापूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है तो किसी को संगीतकला के पतन की शिकायत करने का क्या अधिकार है? संगीत और नृत्य, इन दोनों कलाओं का कलाकार की आन्तरिक प्रेरणा से सम्बन्ध है, परन्तु उनके समुचित विकास के लिए कलाकार को समाज की ओर से भी समुचित सम्मान तथा अनुकूल वातावरण की प्राप्ति होनी चाहिए। हमारे कतिपय प्राचीन तथा साधन-सम्पन्न देव-स्थान संस्कृत-विद्या की उन्नति के लिए कुछ धन-व्यय करते रहते हैं, मुझे इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि इसी प्रकार की उदारता वे संगीत तथा नृत्य की उन्नति के लिए क्यो न प्रदर्शित करें। अब तक देवालयों के कृत्यों तथा उत्सवों के कला-सम्बन्धी कार्य या तो मूर्ख और या पेशेवर लोगों के हाथो में छोड़ दिये गये हैं। परन्तु जैसा कर्म

होता है, उसका फल भी वैसा ही मिलता है। यही बात इस सम्बन्ध में भी दिखाई पड़ती है। किसी धार्मिक सन्देश की शक्ति बहुत कुछ सन्देशवाहक पर अवलम्बित रहती है, इस लिए अगर हम यह चाहते हैं कि देव-सेवा में अर्पित नृत्य तथा संगीत दर्शकों तथा श्रोताओं पर उचित प्रभाव डाल कर उनकी आध्यात्मिक भावनाओं को जागृत कर सकें तो कलाकारों की योग्यता तथा उनके चरित्र को ऊँचा उठाने की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। आध्यात्मिक जागृति के पूर्व चारित्रिक पवित्रता का होना आवश्यक है। जो समाज, संगीत और नृत्य जैसे जागृति के शक्तिशाली साधनों की उपेक्षा करता है और उन्हें अवांछनीय व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाने देता है, वह अपनी इस भूल का दंड पाये बिना नही बच सकता। हमारे भक्तगण बड़े कुशल संगीतज्ञ भी थे, परन्तु उनके शब्दों में इतनी शक्ति भरी रहने का रहस्य यही है कि वे चरित्रवान् थे, उनका जीवन सतत साधना का जीवन था। यदि रामदास, तुकाराम, तुलसीदास, सूर, कबीर और मीराबाई के शब्दों में आज भी शक्ति है तो इसलिए कि इन शब्दों के पीछे इन संतों की आध्यात्मिक साधना छिपी हुई है। उनके शब्दों में जो जादू था वह आज भी मौजूद है, परन्तु उस जादू से जनता को प्रभावित कर सकने के लिए कलाकार में चरित्रबल तथा समुचित अभ्यास का होना आवश्यक है। सांस्कृतिक विकास अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया करता है। कलाकार के हृदय की भावना ही यदि वह वास्तविक है साकार रूप धारण कर लेती है और जादू-भरे शब्द बनकर श्रोताओं के हृदय को बेध जाती है। वही कविता के पंख लगाकर आकाश में उड़ने लगती है और स्वर्ग तक में प्रवेश कर जाती है। परन्तु किसी भी समाज के विकास के लिए तीन बातों का होना अत्यावश्यक है—बुद्धिमत्ता, नियम-पालन और सच्ची लगन। हमारे राष्ट्रीय जीवन में एकांगीपन-सा आ गया है, परन्तु जीवन में सामंजस्य लाने के लिए यह

आवश्यक होता है कि किसी एक बात को अत्यधिक महत्त्व देकर अन्य बातों की उपेक्षा न की जाय।

वर्तमान परिस्थिति के लिए हमें अपने कलाकारों को ही दोषी न समझना चाहिए। समाज ने बहुत समय से उनकी अवहेलना की है, उन्हें तुच्छ समझा है। उनका कार्य अथवा पद बहुत सम्मानपूर्ण नहीं समझा गया। अभी हाल ही मे समाज का ध्यान अचानक इस बात की ओर गया है कि बालकों की शिक्षा मे संगीत और नृत्य का भी स्थान हो सकता है अथवा होना चाहिए। यह बात समाज ने अब भी नहीं समझी है कि आचार्य और उत्साद भी विद्यावान् व्यक्ति हैं और सम्मान तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं। हम उनके मुख से अपने संत महात्माओं के अमर गान सुनने के तो इच्छुक रहे हैं, परन्तु स्वयं उनकी चारित्र्य तथा नैतिक स्थिति के सम्बन्ध मे सदा संशयग्रस्त ही रहे हैं। इसका परिणाम हमारे नैतिक गठन के लिए भी श्रेयस्कर नहीं हुआ है। आध्यात्मिक जागृति के लिए वातावरण की विशुद्धता परमावश्यक है। इस समय हमारी जीवन-धारा में एक नई लहर उठी है। इस अवसर पर यह आवश्यक है कि हमारे राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक-जीवन में संगीत तथा नृत्य का जो स्थान है उसे हम समझ ले और स्वीकार कर ले, ताकि उनकी उन्नति के लिए, उनके अधिक व्यापक प्रचार के लिए, समुचित प्रयत्न किया जा सके। अब तक संगीत तथा नृत्य की कलाओं पर केवल पुश्तैनी, पेशेवरों अथवा देवदासियो अथवा निर्धन तथा निम्नश्रेणी के व्यक्तियो का ही अधिकार रहा है। अब यह परिस्थिति बदल जानी चाहिए। अनन्त-काल से हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा इन कलाओं के द्वारा अपने को प्रकट करती रही है और करती रहेगी, इसलिए अपनी इन अमूल्य निधियो को यथाशक्य अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना हमारा कर्त्तव्य है। इन कलाओं को शिक्षा के क्षेत्र में अपना उचित स्थान प्राप्त होना चाहिए और उन्हें विद्वत्ता, पवित्रता तथा विश्वास के वातावरण

में फलने फूलने का अवसर मिलना चाहिए। संगीत तथा नृत्य के विद्यालयों को सरकार तथा दानशील व्यक्तियों से आर्थिक साहाय्य पाने का अधिकार है। यदि अब तक उनके इस अधिकार की उपेक्षा हुई है, तो इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने अधिकार पर काफी जोर नहीं दिया और अधिकारियों तथा जनता ने इस बात को समझा नहीं कि जीवन के सर्वांगीण विकास में इन कलाओं की कितनी उपयोगिता है।

यहाँ हिमालय की गोद में, उदयशंकर के केन्द्र की छाया में, संगीतज्ञों का एकत्रित होना भविष्य के लिए एक शुभ लक्षण है। उदयशंकर के नृत्य की समुचित संगीत के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। दशहरा के अवसर पर नृत्य तथा संगीत का यह एकत्रीकरण बड़े आनन्द का विषय है। हमारे सामने जो कार्य पड़ा हुआ है वह जैसा कठिन है वैसा ही महत्त्वपूर्ण भी है। उसका ध्येय केवल कलाओं का विकास ही नहीं, जीवन को सामंजस्यपूर्ण बनाना भी है।

१७—महान् सम्राट् अकबर

[डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी]

हमारे देश में यों तो सैकड़ों प्रसिद्ध राजे, महाराजे, सुल्तान और बादशाह हो गये हैं; किन्तु अशोक और अकबर का स्थान संसार के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अङ्कित है। कुछ योरोपीय विद्वान् भी मानते हैं कि संसार के प्रसिद्ध सम्राटों में अशोक का प्रथम स्थान है। यदि यह धारणा सत्य है तो सम्भवतः यह भी मानना पड़ेगा कि अकबर यदि उनसे ऊँचा नहीं तो किसी प्रकार कम भी नहीं है। अकबर के सामने जो धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याएँ थीं वे अशोक की समस्याओं से कहीं अधिक

जटिल थीं। उदाहरण के लिए अशोक को चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य और शासन-विधान बना बनाया मिल गया था, किन्तु अकबर को साम्राज्य एवं शासन विधान स्वय निर्माण करना पड़ा। अशोक के सामने हिन्दू-मुस्लिम समस्या न थी। यह समस्या कैसी जटिल और उलझनपूर्ण है, यह सबको विदित है। अशोक के सामने बौद्ध-धर्म का दृष्टिकोण था। अकबर को नया दृष्टिकोण निकालने की आवश्यकता पड़ी। कुछ इतिहासज्ञों का मत है कि अशोक की नीति से मौर्य साम्राज्य की जड कमजोर हो गई और बना-बनाया काम बिगड़ गया। किन्तु कोई विज्ञ इतिहासवेत्ता यह नहीं मानता कि अकबर की नीति से हिन्दुस्तान को हानि पहुँची। प्रत्युत यह माना जाता है कि अकबर ने मुग़ल साम्राज्य को ऐसा दृढ़ बनाया जैसा कि कोई भी हिन्दुस्तान का ऐतिहासिक सम्राट् अपने साम्राज्य को न बना सका।

अकबर का जन्म ११ अक्टूबर, १५४२ को अमरकोट के राजा रानाप्रसाद के किले में हुआ। उनकी माता हमीदाबानू बेगम एक सूफियों के सन्त वश की लड़की थीं। अकबर के जन्म के समय उसकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। बादशाह हुमायूँ को पुत्र होने का समाचार मरुभूमि के केम्प में मिला। उसके पास धन तो था नहीं कि लोगो मे बाँटता। कस्तूरी की एक नाभि अवश्य थी, जिसको तोड़कर उसने अपने सहचरो को बाँट दिया। उसे इतना अवसर न मिला कि अपने पुत्र को देख सकता; क्योंकि रानाप्रसाद सिन्ध पर चढ़ाई करने के लिए उससे बहुत आग्रह कर रहा था। कुछ दिनों के बाद जब हमीदाबानू यात्रा करने के योग्य हो गई, अपने पुत्र के साथ बादशाह से जा मिलीं। किन्तु साथ बहुत समय तक न रहा। भाइयो के डर से हुमायूँ को फारस भाग जाना पड़ा। अकबर कन्धार मे ही छोड़ दिया गया। वहाँ से उसके चचा कामरान ने उसे काबुल बुलवा लिया।

तीन वर्ष के बाद हुमायूँ ने काबुल पर आक्रमण किया। किले

की दीवार पर उसने ऐसी गोलाबारी की कि जिससे दीवार टूटने का भय होने लगा। दीवार बचाने के लिए कामरान ने अकबर को दीवार के ऊपर बिठा दिया। ईश्वर की कृपा से हुमायूँ को यह ज्ञात हो गया। इसने उस ओर गोलन्दाजी बन्द करवा दी। फिर भी काबुल उसने सर कर लिया। पिता-पुत्र की भेंट हुई। अकबर चार वर्ष का था जब उसका खतना बड़े धूमधाम से किया गया। कहते हैं कि इसी अवसर पर उसका नामकरण हुआ। तभी से वह जलालुदीन मोहम्मद अकबर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हुमायू ने अकबर की शिक्षा के लिए हर प्रकार का प्रबन्ध किया। पढने-लिखने में तो उसका अधिक ध्यान न था। यद्यपि वह बड़ा कुशाग्र-बुद्धि था। किन्तु व्यायाम और अस्त्र-शस्त्र विद्या में उसकी बड़ी रुचि थी। जब वह आठ वर्ष का हुआ, तब उसका ब्याह किया गया और गजनी प्रान्त का शासक नियुक्त हुआ। उसी समय से उसके शासन-ज्ञान का सूत्र-पात हुआ।

हुमायूँ ने जब हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की तब अकबर भी साथ था। सरहिन्द के युद्ध में उसने भाग भी लिया था। देहली और आगरा लेने के बाद हुमायूँ ने उसे बैराम खाँ की अध्यक्षता में सिकन्दर सूर से लड़ने के लिए पञ्जाब भेजा। उसकी सेना का पड़ाव कलानोर में था, जब उसे हुमायूँ की सहसा मृत्यु का समाचार मिला। पड़ाव में ही सरदारो ने उसे १४ फरवरी, १५५६ को सम्राट् बनाकर उत्सव मनाया। उस समय उसकी अवस्था केवल तेरह वर्ष कुछ महीने की थी। ऐसी कच्ची अवस्था में राज्य का भार आ जाने से अकबर की कठिन परीक्षा का आरम्भ हुआ। इस समय पंजाब की पहाड़ियों में सिकन्दर सूर और यू० पी० में प्रसिद्ध सेनानायक हेमराज मुगलों की जड़ उखाड़ने के लिए उद्यत थे।

पुरुषार्थ और भाग्य ने मुगलों को विजय-श्री प्रदान की। हेमू

और सिकन्दर दोनों हार गये। किन्तु अकबर को अपने उद्धत सरदारों और अमीरो को दमन और वश में करने में लगभग आठ वर्ष लगे। उनसे छुट्टी पाकर उसने हिन्दुस्तान के स्वतन्त्र राज्यों का प्रश्न हाथ मे लिया। उत्तरी भारत के सब मुसलमानी राज्यों का उसने अन्त कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। मालवा, गुजरात, बगाल, सिन्ध काश्मीर आदि की सल्तनतों और वहाँ के सुल्तानो का नाम-निशान मिट गया। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान भर में नहीं तो कम से कम उत्तर भारत में वह एकमात्र मुसलमान सम्राट् या बादशाह होना पर्याप्त ही नहीं, किन्तु आवश्यक समझता था।

हिन्दू राज्यों के प्रति उसकी भिन्न नीति थी। यद्यपि अपने राज्य की सीमाओं को दृढ़ करने के लिए उसने कुछ-कुछ भाग हिन्दू राज्यो से आवश्यकतानुसार लिया, तथापि यह कहा जा सकता है कि उसने हिन्दू राज्यों का अथवा राजवंशो का नाश नहीं किया। उसकी नीति उनका अस्तित्व रखने की थी। किन्तु दो शर्तें उन पर लगाई गई। पहली यह कि वे सम्राट् को अपना अधिपति माने और आवश्यकता पड़ने पर धन-जन से साम्राज्य की सहायता करें। दूसरी यह कि आपस में लड़ाई-झगड़े बन्द कर दे और उलझन पडने पर सम्राट् के निर्णय के अनुसार व्यवहार करे। वीरता के प्रदर्शन और संग्रामप्रियता के विकास के लिए वे साम्राज्य की सेना अथवा शासन में अपनी योग्यता के अनुसार भाग ले सकते हैं। इस विधान से वे अपने क्षत्रियत्व की रक्षा और साम्राज्य का उपकार कर सकेंगे। कुछ लोगो की धारणा थी कि अकबर हिन्दू राजाओं को मजबूर करता था कि वे उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करे और अपनी लड़कियाँ या बहने उसके हरम में दाखिल करें। किन्तु यह धारणा काल्पनिक है। इसके लिए कोई दृढ़ प्रमाण नहीं। वह मजबूर नहीं करता था किन्तु यदि कोई विवाह का प्रस्ताव करता तो वह

उसे प्राय: स्वीकृत कर लेता था। सम्भव है कि वह यह मानता हो कि इस प्रकार के सम्बन्ध होने से हिन्दू राज्यों और साम्राज्य में अधिक घनिष्टता स्थापित होगी। इस प्रकार के राजनीतिक विवाह उसके पहले भी हिन्दुस्तान में होते थे। इसके उदाहरण दक्षिण, गुजरात, बंगाल के इतिहास में इतस्तत: मिलते हैं। राजपूताने में दो साम्राज्यों के लिए गुञ्जायश न थी। अतएव मुगल और मेवाड़ साम्राज्यों की टक्कर अनिवार्य-सी थी। इसमें मुगल साम्राज्य की विजय हुई। इस टक्कर को हिन्दुत्व और इस्लाम अथवा साम्राज्यवाद और राज्यवाद की टक्कर समझना भूल है। उसे धार्मिक और सामाजिक रूप देना भ्रम मूलक है, क्योंकि उसका वास्तविक रूप और कारण केवल राजनीतिक था।

अकबर की नीति से हिन्दू रजवाड़े सन्तुष्ट थे। हिन्दू राजाओं ने उसे साम्राज्य और शासन स्थापित करने में पूरी पूरी सहायता दी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य और हिन्दू-राज्यों का वैमनस्य मिट-सा गया है। वे हिन्दू-राज्य साम्राज्य के बलदायक और पुष्टिकारक अङ्ग हो गये। साम्राज्य को उनकी भक्ति और शक्ति पर विश्वास हो गया। उधर हिन्दू राजे भी यह अनुभव करने लगे कि मुगल साम्राज्य की स्थापना में उनकी तलवार और उनका रक्त लगा है। अतएव वह अंशत: उनकी चीज है। दोनों का पारस्परिक सहयोग दोनो के लिए लाभदायक, क्षेमकर और श्रेयस्कर है। इसी भावना के कारण मुगल साम्राज्य ने अपूर्व उन्नति की और चिरस्थायित्व पाया। मुगल साम्राज्य हिन्दू और मुसलमानों के संयुक्त प्रयत्न और प्रतिभा का प्रतीक था। दोनों का उससे और दोनों से उसका सम्मान बढ़ गया।

राजपूतों को ही नहीं, किन्तु समस्त हिन्दू प्रजा को अकबर की धार्मिक नीति से संतोष था। सबसे पहले तो उसने जज़िया— और तीर्थ-स्थानों पर लगे हुए करों को लेना बन्द कर दिया। इसके सिवाय उसने यह भी घोषणा कर दी कि वह किसी के धर्म

पर आघात न करेगा और न उनको अपने उत्सवों के मनाने अथवा देवालयों या तीर्थ स्थानों में हस्तक्षेप करेगा। इस नीति से प्रजा को उसकी निष्पक्षता में विश्वास होने लगा। किन्तु अकबर को इतने से सन्तोष न हुआ। धार्मिक तत्त्व एवं समस्याओं को समझने के लिए उसने धार्मिक ग्रंथों और इतिहास का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उसने इबादतखाने में पहले मुसलमान सम्प्रदायों के नेताओं को बुला-बुला कर उनके मन्तव्यों को समझने का प्रयत्न किया। इसके बाद हिन्दू, जैन और ईसाई धर्मों के विद्वानों से उनके मन्तव्य समझे। विद्वानों के शास्त्रार्थ को वह ध्यान से सुनता और समझता था। इस प्रकार से उसे हिन्दुस्तान के मुख्य धर्मों के सिद्धान्तो और अनुशासनो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। उसका सबसे तीव्र आलोचक भी मानता है कि इतिहास, धर्मशास्त्र और सिद्धान्त की जितनी जानने योग्य बाते हैं उनको अकबर ने अपनी विलक्षण स्मृति-शक्ति के द्वारा अपने मस्तिष्क में जमा कर लिया था। इस प्रकार के धार्मिक अध्ययन और परि-ज्ञान से वह इस निर्णय पर पहुँचा कि सब धर्म मोटे तौर पर अन्ततोगत्वा एक ही सिद्धान्त पर पहुँचते हैं और जीवन का एक ही लक्ष्य मानते हैं। आपस मे धार्मिक वैमनस्य भ्रमसूलक है। इस सिद्धान्त ने उसके हृदय में ऐसी उदारता भर दी कि जिससे प्रत्येक मतावलम्बी उसे अपने मत का समझता और वह सब धर्मों और सम्प्रदायों के साथ सहानुभूति और उनको उत्साहित करता था। उससे उन कट्टर मुसलमानो से अच्छी तरह न पट सकी जो विचार-संकीर्णता और अन्धविश्वास के कारण उसकी सारी नीति पर पानी फेरने की चेष्टा करते और अड़चने बढ़ाते थे। अपने विचारों को उसने अपने सरदारों और सचिवो तथा दरबारियों को समझाया। बहुतों को उसका धार्मिक दृष्टिकोण अच्छा लगा। उन सबों ने मिल कर अकबर की धर्माध्यक्षता में एक संस्था स्थापित की, जिसमें प्रत्येक धर्मवाला सदस्य हो सकता

था। इसमें वह अपने विचारों का निरूपण करता था। किन्तु किसी को अपना धर्म बदलने की चेष्टा करना तो दूर रहा, वस्तुतः वह धर्म बदलने को अनावश्यक, व्यर्थ एवं अनुचित समझता था। अपने इस दृष्टिकोण का नाम उसने 'दीन इलाही' रखा था। उसके मुख्य सिद्धान्त चार थे—पहला तो एक ईश्वर में अटल विश्वास। दूसरा सम्राट् के प्रति भक्ति, तीसरा मांसाहार को यथासंभव कम करना, और चौथा आपस में भ्रातृ भाव बढ़ाना। यह संस्था जहाँगीर के समय तक प्रचलित रही। यद्यपि जहाँगीर ने अपने ढीलेपन अथवा क्षीण रुचि के कारण उसे बन्द हो जाने दिया तथापि उससे जो विचारधारा निकली वह अज्ञात अथवा ज्ञात रूप से फैलती ही गई। यदि शाहजहाँ और औरंगजेब बादशाह उसका पोषण करते तो वह देश भर में फैल जाती। उनकी अनुदारता और सामयिक परिस्थिति ने उसके वेग को कम कर दिया, किन्तु उसका शोषण न हो सका।

अकबर की उदारता का एक यह भी रूप हुआ कि उसने संस्कृत के कुछ धार्मिक ग्रंथो और रामायण और महाभारत आदि के अनुवाद सरल फारसी में कराये, जिससे वह स्वयं एवं अन्य मुसलमान पढ़ कर हिन्दू धर्म एवं आर्यसभ्यता को समझ सके। यही नहीं, उसने हिन्दी के तत्कालीन साहित्य का आदर-सम्मान बढ़ाने के लिए दरबार में राजकवि का पद स्थापित किया। वह हिन्दी के कवियों का आदर-सत्कार भी करता था, जिससे शहजादों, अमीरों और मुसलमान सरदारों में भी हिन्दी की ओर अनुराग हो और वे भी संरक्षक एवं सहायक बने। इसी उदारता के प्रचार के लिए उसने फारसी के साहित्य और कविता में एक विशेष आदर्श की ओर अधिक जोर देकर उसका फैशन चलाया। फारसी कविता और इतिहास रचना इस समय हिन्दुस्तान मे बड़े ऊँचे दर्जे की हुई, जिसका आस्वादन सभी धर्मावलम्बी और साहित्यिक कर सकते हैं। उधर भाषा (हिन्दी) के लिए भी उसका युग, स्वर्णयुग हो

गया। फारसी की समकक्षता करने के प्रयत्न में भाषा की इतनी मँजाई हुई कि उसका लालित्य, उसकी कोमलता, अर्थ-गंभीरता और विशदता की अपूर्व उन्नति शीघ्रता से हुई।

इसी आदर्श से प्रेरित होकर अकबर ने स्थापत्य (गृह-निर्माण-कला) एवं चित्रकला का संवर्द्धन किया। उसकी इमारतों में हिन्दू और मुसलमानी कला का ऐसा सुन्दर संमिश्रण हुआ कि जिससे एक नया, भविष्यपूर्ण और प्रशस्त मार्ग खुल गया। उसमें सौंदर्य के साथ बल और गौरव का अपूर्व संयोजन है। उसमें आदर्श और भावुकता का भी चमत्कार है। एक प्रसिद्ध आलोचक का मत है कि यदि अकबर के उत्तराधिकारी और हिन्दुस्तानी उस कला को आगे बढ़ाने की चेष्टा करते तो स्थापत्यकला का अद्भुत विकास होता। इसी प्रकार चित्रकला का भी उसकी उदारता और संरक्षता ने केवल उद्धार ही नहीं किया वरन् उसको ऐसा बना दिया कि उसने अपना निरालापन और सौष्ठव संसार में स्थापित कर दिया। उसका रूप-रंग अनोखा और नवीनतापूर्ण हो गया।

उसके ये तथा अन्य प्रयत्न हिन्दुस्तान में शान्ति और सद्भाव-पूर्ण राष्ट्र अथवा साम्राज्य स्थापित करने के लिए थे। वह हिन्दु-स्तान के अनेकानेक राज्यों को एकता के सूत्र में सुव्यवस्थित रूप से गूँथना चाहता था। हिन्दुस्तान को बलशाली, भाग्यशाली और समृद्धिशाली बनाने के लिए उसने पश्चिमोत्तर सीमा को अपने राज्य में मिलाकर संगठित किया। इसके सिवा योरप वालों से देश की रक्षा करने के लिए दक्षिण के राज्यों को दबाना शुरू किया। यदि उसकी असामयिक मृत्यु न हो जाती तो यह असम्भव न था कि दक्षिण में भी उसका प्रभुत्व हो जाता जिससे साम्राज्य अपनी पूर्णता को पहुँचकर अजेय-सा हो जाता। केवल उसी में यह शक्ति थी जो दक्षिण पर भी अपना जादू डाल सकती थी। साम्राज्य अथवा राष्ट्र की सेना को भी उसने संगठित करने का अच्छा प्रयत्न किया। उसकी सेना की धाक एशिया और

तत्कालीन योरप में बँध गई थी। शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए उसने केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन का भी अच्छा संगठन किया जिससे राज्य व्यवस्था पहले से बहुत अच्छी हो गई। उसका शासन विधान कुछ घट-बढ़ के साथ क़रीब साढ़े तीन सौ वर्ष तक चलता रहा। उसका बहुत कुछ अंश अँगरेजों ने भी लेकर भारत में अँगरेजी शासन की रचना की।

अकबर की नीति से अमीरों और ग़रीबों दोनों को लाभ हुआ। राज्य के सभी उच्चपद जाति और धर्म के बंधन से छुट गये। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दू अथवा मुसलमान बढ़ सकते थे। कई हिन्दू सेनाध्यक्ष, हिन्दू सूबेदार, हिन्दू वज़ीर और दीवान उस समय विद्यमान थे। सम्राट् का दरबार सबों के लिए खुला था। व्यापार और कला-कौशल को भी उत्साहित करने और बढ़ाने के उपाय उसने निकाले। ऊनी और रेशमी माल पहले से अच्छा बनने लगा। रजवाड़ों, व्यापारियों एवं राज्य के कर्मचारियो की उन्नति होती रही। उसी के साथ ग़रीब किसानों का भी उसने उपकार किया। उन पर लगे हुए बहुत से छोटे मोटे करो को उसने हटा दिया और लगान भी समय देखते हुए हलका और निश्चित रक्खा। शासन-यंत्र इस ढंग से रचा गया कि स्थानिक शासन तक का निरीक्षण हो सके। लगान की रकम भी उसके शासन-काल के उत्तरार्ध में निश्चित और स्थायी सी हो गई। किसानों एवं ग़रीबों की अनेक आवश्यक चीज़ो पर से उसने कर हटा दिया। संभव है कि यह भी एक कारण हो जिससे उसके नाम ने ग़रीबों के अधरों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अकबर बादशाह का नाम आज तक उत्तरी भारत के गाँव-गाँव में आदर और स्नेह के साथ लिया जाता है।

देश की सामाजिक दशा के सुधार के लिए उसने बाल-विवाह रोकने, विधवा विवाह को कानून द्वारा स्वीकृत करने, सती प्रथा को कम करने, शिक्षा-सुधार के लिए दासता हटाने और भिखारियों

को कम करने के लिए भी प्रयत्न किया। स्थानाभाव से हम उनका संकेत मात्र ही कर सकते हैं।

यद्यपि अकबर ललितकला, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक विषयों का प्रेमी था किन्तु उसमें पौरुष, ओज और वीरता की कमी न थी। उसमें भावुकता, बुद्धि और साहस का अच्छा संगम था। साधु-सन्तों से सत्संग, राज्य के प्रत्येक विभाग का निरीक्षण करना, विद्वानों से वार्तालाप करने में उसका मन लगता था, किन्तु जब कोई सामरिक समस्या उठ खड़ी होती तो उसे भी उतने ही उत्साह, सहनशीलता, वीरता और धीरता से हल करता कि जिसको देखकर राजपूत और तुर्कों के समान वीर और बड़े-बड़े सेनापति दंग रह जाते थे। बरसों वाले मामले महीनों और दिनों में वह निर्णय कर देता था। गुजरात काबुल और दक्षिण की चढ़ाइयों में उसने अपने पराक्रम, कुशलता और नीतिज्ञता का अच्छा प्रमाण दिया है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

उपर्युक्त विहङ्गावलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अकबर की प्रतिभा बहुमुखी और दृष्टि सूक्ष्म, व्यापक और दूरदर्शिनी थी। उसमें कर्त्तव्यनिष्ठा, सहानुभूति प्रजावत्सलता, आदर्श एवं सक्रियता का विलक्षण सामञ्जस्य हुआ था। ज्ञान, श्रद्धा और कर्म का ऐसा समन्वय संसार के प्रख्यात सम्राटों में भी कहीं कभी ही पाया जाता है। उसकी मृत्यु १७ अक्टूबर सन् १६०५ को हुई। सवा तीन सौ वर्ष हो गये किन्तु उसकी श्री हम सबों के हृदय पर आज भी अङ्कित और स्मृति जीवित है, और उसके आदर्शों से आधुनिक समस्याओं के सुलझाने का सङ्केत हो रहा है।

१८—मेरी काव्य-साधना

[श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला']

हिन्दी में 'जुही की कली' मेरी पहली रचना है। हिन्दी के

विभिन्न पाठकों तथा आलोचकों को यह पसन्द आई है। पर 'वीणा' में छोड़कर अन्यत्र दूसरे आलोचकों द्वारा इसका पूर्ण सौन्दर्य-प्रदर्शन नहीं किया गया। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्ति-रूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। मेरी छोटी रचनाएँ (Lyrics) और गीत (Songs) प्रायः ऐसे ही हैं। इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप में है, खण्ड में नहीं। सूक्तियाँ—उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं; केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ। जैसा प्रेमचन्दजी ने लिखा है—असफल लेखक आलोचक बन बैठा। साधक जिस तरह विभूति में आकर इष्ट से अलग हो जाता है, कवि उसी तरह उपदेश करता हुआ कविता की दृष्टि से पतित हो जाता है। फिर भी नीतियाँ, सूक्तियाँ, उपदेश कविता में प्रचलित हैं, कवि लिखते हैं।

'जुही की कली' का उद्धरण देकर मैं यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा कि ठीक-ठीक चित्रण होने पर उपदेश किस तरह उसके भीतर छिपे रहते हैं और कला का विकसित रूप स्वयं किस तरह उपदेश बन जाता है। पुनः ऐसी रचनाओं का खण्डोद्धरण आलोचक का अधूरा सौन्दर्य-दर्शन और कवि पर की गई कृपारूपिणी अकृपा है।

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्राङ्क में।
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूरदेश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लतापुञ्जों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली साथ ।

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी
जैसे हिंडोल ।

इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वङ्किम विशाल नेत्र मूदे रही—
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंको की झड़ियों मे
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रङ्ग प्यारे सङ्ग ।”

अर्थ और कला

विजन वन की वल्लरी पर, सुहाग से भरी हुई, स्नेह के स्वप्न में डूबी, निर्मल-कोमल-देह वाली तरुणी जुही की कली आँखें मूँदे हुए, शिथिल, पत्राङ्क में सो रही थी। सौन्दर्य की कल्पना प्रासाद से नहीं, वन से शुरू होती है। फिर भी सौन्दर्य के उपकरण प्रासादवालों से अधिक कोमल हैं या नहीं, यह विचार्य है। यहाँ दो उपकरण आये हैं। एक—'विजन-वन-वल्लरी', एक—'पत्राङ्क'। प्रेम की प्रतिमा तरुणी प्रासाद या रम्य गृह में रहती है; जुही की कली विजन-वन-वल्लरी पर है। यह भी एक ऊँचा स्थान है। तरुणी पलँग पर सोती है, कली पत्रांक में सोई हुई है। दो पत्तों के बीच का स्थान देखिए; स्प्रिंगदार, जो मोड़ा जा सकता है,—ऐसे पलँग पर जुही की कली है। पाठक सोच सकते हैं कि प्रासाद की युवती के पलँग से तरुणी जुही की कली का पत्रांक अधिक सुन्दर है या नहीं और 'पलँग' या 'पर्यंक' से 'पत्रांक' का कैसा शब्द-साम्य है। सोते समय तरुणी आँखें मूँद लेती है; इसके दल बन्द हैं, जिससे आँखें मूँदकर सोने का अनुमान सार्थक है। बाक़ी जितने विशेषण जुही की कली के रूप तथा भाव-सौन्दर्य के लिए आये हैं, वे सब एक तरुणी प्रेमिका पर घट सकते हैं। मतलब यह है कि जुही की कली Personification (स्त्री-रूप में निर्वाचन) अच्छी तरह मिला लीजिए और आगे भी मिलाते चलिए। बहुत-से आलोचकों ने इतने ही उद्धरण से इसकी आलोचना पूरी की है। इतने में केवल स्थान और पत्रांक पर सोती तरुणी कली का रूप-वर्णन है। वह वसन्त की रात थी। अब समय का वर्णन आया है। तरुण और तरुणी के प्रेम-आलाप का कौन-सा समय अधिक उपयुक्त है, यह परिणत पाठक जानते हैं। विरह से विधुरा प्रिया का साथ छोड़कर पवन, जिसे मलयानिल कहते हैं, किसी दूर देश में था। कविता बंगाल में लिखी गई है। वहाँ मलय-पवन बहता है। यहाँ, युक्तप्रान्त में नहीं।

पर बंगला-साहित्य की ऐसी हवा यहाँ वालों को लगी कि ये भी मलय पवन बहाने लगे। इस रचना में जुही वसन्त में खिली है। वसन्त में जुही युक्तप्रान्त में नहीं खिलती, ग्रीष्म वर्षा में खिलती है। बंगाल में ऋतु कुछ पहले आती है। वहाँ जेठ भर में आम खत्म हो जाते हैं और यहाँ आषाढ़ से पकना शुरू होता है। अस्तु इस जगह द्रष्टव्य यह है कि जुही की कली अभी खिली भी नहीं—प्रिय से उसका सम्मेल नहीं हुआ, फिर भी उसके लिए 'विरह-विधुर' प्रयोग आया है। यहीं, पहले कहा हुआ वह उपदेश-रूप चित्रण-सौन्दर्य मे छिपा दिया गया है। इससे अर्थ-गाम्भीर्य बढ़ गया है। यहाँ 'विरह-विधुर-प्रिया' द्वारा कली के अनन्त यौवन की व्यंजना होती है। यह दर्शन इस प्राकृतिक सत्य पर अवलम्बित है कि कली हर साल खिलती है और पवन से मिलती है। पवन उसका ऐसा प्रिय है जो हमेशा उसके पास नहीं रह सकता, वह उससे मिलकर चला जाता है—ठहर नहीं सकता। वह स्वभाव से परदेशी है। कली भी उसके चले जाने पर अपने अदृश्य तत्व में लीन हो जाती है, समय पर फिर उससे मिलती है। पवन के चले जाने के बाद वियोग-शृङ्गार सुदृढ़ होता है, फिर मिलन जो बड़े परिचय का है। यह वियोग भाव आगे थोड़े में प्रदर्शित है। पवन जब आता है, एक साल तक भिन्न-भिन्न देशों मे भ्रमण करने के बाद, तब कली को, जैसी वह देख गया था, वैसी ही पूर्ण-यौवना देखता है। इस तरह कली का अनन्त यौवन व्यञ्जित हुआ। पर 'विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़' इस शब्द-बन्धन से वियोग के भाव-चित्र द्वारा काव्य को महत्व मिला है, दर्शन गौण हो गया है—इसके भीतर डाल दिया गया है। यदि "विश्व में शाश्वत रे यौवन !," इस तरह की कोई पक्ति यहाँ होती तो चित्रण-सौन्दर्य की अपेक्षा दर्शन-उपदेश प्रबल होता। पर रचना जैसी कहानी की तरह चली है वैसी ही जा रही है। वियोग के समय मिलन की ही बातें याद आती हैं, जो आगे वर्णित हैं। बिछुड़न से मिलन

की वह मधुर बात (पहलेवाली) याद आई, चाँदनी की धुली हुई आधी रात (मिलन का समय, सुन्दरता) याद आई, कान्ता का कम्पित कमनीय गात याद आया। प्रिय से मिलते समय कान्ता का कम्पित होना स्वभाव और सौन्दर्य है। यह स्वाभाविकता पवन से मिलते समय कली में और स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। फिर क्या ? पवन उपवन-सर-सरित गहन-गिरि कानन कुंज-लता-पुंजों को पार कर (पवन की गति जल्द-जल्द स्थानों को पार करना सूचित करती है। यहाँ वेग का वर्णन खुलासा नहीं किया गया, उसकी आकांक्षा और गति आप स्पष्ट होती है), वहाँ पहुँचा। कली सोती थी, (फिर) प्रिय का आगमन, कहो, वह कैसे जाने ?—(युवती के प्रति सहानुभूति)। नायक ने कपोल चूमे, वल्लरी की लड़ी हिंडोल की तरह डोल उठी। यहाँ भी सुप्त-सौन्दर्य पर उपदेश के स्वर से कुछ नहीं कहा गया। पर कली की शय्या जो चूमने पर हिंडोल की तरह डोल उठी, कली का सुप्त सौन्दर्य और उस पर परिचय की पड़ी पवन की दृष्टि पाठक अच्छी तरह देखें। इस पर भी उसने आँखें नहीं खोलीं, चूक के लिए प्रिय के आने पर भी सोती रहने के लिए क्षमा नहीं माँगी, नींद से अलसाई हुई तिर्यक बड़ी-बड़ी आँखें मूदे रही। छोटी सी जुही की कली के बन्द दलों में बड़ी-बड़ी आँखों का दर्शन—जैसे मुदी आयत आँखें ही देख पड़ती हैं, रूप भर में आँखों को महत्व देता है; आँखों के लिए आँखे ही सबसे अधिक प्रिय हैं, अथवा यौवन की मदिरा पिये वह मतवाली थीं, यह कौन कहे ? उस निर्दय नायक ने अत्यन्त निष्ठुरता की कि झोंकों की झड़ियों से सारी सुन्दर सुकुमार देह झकझोर डाली। यह प्रेम का सहृदय उत्पात या आवेश है। कली के प्रति सहानुभूति नायक को 'निर्दय' कहने में सूचित है। युवती चौंक पड़ी,—चारों ओर चकित चितवन फेरकर, सेज के पास प्रिय को देख, नम्रमुखी (लज्जिता होने के कारण हवा से झूमती हुई कली झुक जाती है, जिससे उसके नम्रमुख होने का चित्र

बनता है) हँसी--प्रिय के संग रंग खेलकर (अनेक प्रकार की रंगरलियाँ करके) खिल गई। यहाँ, जुही की कली में, कला सुप्ति से जागरण में आती है—यह उसका क्रम-परिणाम है। अभी-अभी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में एक नेता ने उसे साहित्य कहा है जो मानव-जाति को उठाता हो। यहाँ जुही की कली में जो कला है, वह ऐसी ही है या नहीं, देख लीजिए। सुप्ति में प्रिय नहीं है, आत्म-विस्मरण भी है, फिर भी चूँकि जीवन है, इसलिए रूप है। कहानी के तौर पर बिना उपदेश वाक्य के, रचना किस तरह की गई है, कई भंग लेती हुई फिर भी सिलसिलेवार, यह अनावश्यक होने पर भी गद्य में स्पष्ट किया गया है। गद्य में पद्य के ही शब्द अधिकांश मैंने रक्खे हैं, नहीं तो कुछ तीखापन आ जाता है। कली की सुप्ति—आत्म-विस्मृति—मन के अन्धकार के बाद है जागरण—आत्म-परिचय—प्रिय-साक्षात्कार—मन का प्रकाश—खिलना। कली सोते से जगी हुई, प्रिय से मिली हुई, खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में सर्वोच्च दार्शनिक व्याख्या सी सामने आती है या नहीं, देखे। कोई आलोचक यदि इसका एक अंश उद्धृत करके सन्तुष्ट रहें और दूसरों को सन्तोष दें तो इसके साथ न्याय होता है, या अन्याय, यह भी समझें। मैं इसे ही परिणति कहता हूँ और उत्कृष्ट कला का एक उदाहरण "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की काव्य में उतारी हुई यह तस्वीर है या नहीं, परीक्षा करें। यहाँ सुप्ति तम और प्रिय-परिचय ज्योति है। रचना में केवल अलंकार, रस या ध्वनि नहीं, उनका समन्वय है। इस तरह एक कला पूर्ण हुई है।

'परिमल' में मेरी 'निवेदन' शीर्षक एक रचना है। इसका उद्धरण आज तक किसी ने नहीं दिया। यहाँ इसी का विवेचन करता हूँ—

"एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल मे,

लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन जल में।
जब कहीं झड़ जायँगे वे,
कह न पायेगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनायेगी?
दाग़ जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा?
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम सा प्रभा-पल में,
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल मे।
फिर किधर को हम बहेंगे,
तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा
तुम किसे दोगे?
हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन,
मगन बह जावगे पल मे
परम-प्रिय-सँग अतल जल में?"

इसमें मुक्त प्रेम की तस्वीर है। प्रिया के लिए प्रियतम की उक्ति है इस रचना में साद्यन्त। प्रियतम किस दृष्टि से प्रिया को देखता है, यह दिखाया है। वह कहता है—'एक दिन तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में रोदन थम जायगा" (यह वाक्य इतना छोटा है कि साधारणजन पहली ही पंक्ति में घबरा जाते हैं—समझ नहीं पाते कि किसका रोदन थम जायगा। यह भेद 'वह हमारी मौन भाषा क्या सुनायेगी' के पास खुलता है। वहाँ मालूम होता है कि रोदन प्रिय का है और अञ्चल प्रिया का। अञ्चलवाली स्त्री होती

है, यह मानी बात है। 'प्रेम-अञ्चल' के प्रयोग से बाहर साड़ी का अञ्चल भी सिद्ध है और भीतर प्रेम का अञ्चल भी। प्रेम अञ्चल में एक दिन रोदन थम जायगा, अर्थात् प्रिय कहता है—मैं फिर रोने न आऊँगा—तुम्हारा मेरा सदा के लिए वियोग हो जायगा। मिलने के समय प्रिय की सुख-विह्वलता के आँसू भाव-रूप से प्रिया के प्रेम के अञ्चल को सिक्त करते हैं और प्राकृत रूप से साड़ी के अञ्चल को।) सींचे नयन जल में लिपट कर कुछ कण-कनक स्मृति बन जायँगे [प्रिय प्रिया से कहता है—सींचे नयन जल में यानी अञ्चल में जिस जगह मेरे आँसू पड़े हैं, वहाँ लिपट कर कुछ कण जो सोने से हैं, मेरी स्मृति बन जायँगे, अर्थात् मैं जुदा हो जाऊँगा, मेरी यह स्मृति रह जायगी।) भीतर, प्रेम के अञ्चल में कनक-कण-सी कथाएँ हैं। (कण सोने के नहीं लिपटते, मिट्टी के ही लिपटते हैं, पर 'कण-कनक' द्वारा कणों की जो बहुमूल्यता है वह प्रेमजन्य है; इसलिए भीतर प्रेम के अञ्चल में जो कनक-कण लगे हैं वे प्रिया-प्रियतम के संसार की रेणुरूपिणी कथाएँ हैं जिनकी याद प्रिया जुदाई के बाद किया करती है।) बाहर वसनाञ्चल में प्राकृत संसार की रेणु; पर चूँकि प्रियतम के आँसुओं से आ लगे हैं इसलिए कनक-जैसे हैं, और भीतर और बाहर के ये चिह्न प्रिय की स्मृति हैं।]

जब कहीं वे (कण) झड़ जायँगे, तब वह हमारी मौन भाषा (जो आँसुओं से भीगे अञ्चल में कणों से लिपट कर स्मृति है) (कुछ) कह न पायेगी (मूक, अक्षम वह)—क्या सुनायेगी कुछ भी शब्द-रूप से नहीं सुना सकती, जिस तरह इस समय मैं सुना रहा हूँ।) (यह प्रसङ्ग भीतर के अञ्चल के लिए यों आयेगा कि कथाएँ विस्मृति में बदलती जायँगी। इसका स्पष्टी-करण आगे और अच्छा है।) जब दाग मिट जायगा, (तब) राग (जो हम तुमने साथ गाया था—प्रेम) स्वप्न ही तो कहलायेगा ? (यहाँ प्राकृतिक सत्य का भी घटाव देखते चलिए। अञ्चल से कणों का कुछ दिनों

बाद झड़ जाना और फिर दाग़ का भी मिट जाना स्वाभाविक है साड़ी के धोने पर—क्रिया-क्रिया से, हृदय की स्पन्दन-शीलता से नई स्मृतियों के आने और पुरानी के जाने पर। इस प्रकार अपनी छाप वह मिटा रहा है। अब उसका प्रकृत प्रेम दाग़ के मिट जाने पर केवल स्वप्न-रूप रह गया है अस्पष्ट!) फिर, तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में, वह निर्धन स्वप्न भी मिट जायगा। जैसे प्रभापल में आकाश का तम (स्वप्न निर्धन है। 'निर्धन' शब्द की ताकत और सार्थकता देखिए, जो कुछ स्मृति-धन रूप था, वह मिट गया है, केवल स्वप्न है; स्वप्न के पास कौन-सा धन अस्तित्व के लिए है?—वह खुद बेजड़ बेजर है; वह भी प्रभा क्षण में, प्रभा की पलकों में आकाश के अँधेरे की तरह मिट जायगा। प्रभा स्त्री-रूप निर्वाचित (Personified) है। प्रभा की पलकों में आकाश का अँधेरा नहीं, उसकी प्रेमिका में भी अब पहले का कोई स्वप्न नहीं—कैसा साफ हो गया है। रूप निष्कलङ्क, निर्विषय, देखिएगा। प्रिया के आँचल से प्रिया का प्रेम आँसू कण, स्मृति, दाग़, स्वप्न बनता हुआ, सूक्ष्मतर होता हुआ, कैसे मिट गया, प्रिया का पहले वाला निर्मल रूप कैसी स्वाभाविक प्रगति से तैयार हुआ, कैसा क्रम-विकास वर्णन में कला होती गई, द्रष्टव्य है।)

फिर, न-जाने, किस तरफ हम बहेंगे किस तरफ तुम होगे, (संसार की सागर से कल्पना प्राचीन है। छुट कर वह कहता है, न-जाने किधर हम बहेंगे, किधर तुम होगे। 'होगे' पुल्लिङ्ग होने पर भी प्रेमिका से बात-चीत में ऐसा ही आता है। इसमें कुछ उर्दू की छाया भी है।) कौन जाने, फिर तुम किसे सहारा दोगे (बहते में प्रेमिका यहाँ सहारा देती है—बाँह पकड़ कर तैरती है। इस तैराक प्रेमिका का यहाँ वाला रूप और भाव-सौन्दर्य देखिएगा जो उसके प्रियतम द्वारा वर्णित है।) अगर हम बहते हुए मिले (जब तुम दोनों एक साथ बहते होगे) तो क्या तुम कहोगे कि हाँ, हम तुम्हें पहचानते हैं, या प्रिय, अपरिचित चितवन खोल कर, पल में,

अपने परम प्रिय के साथ स्नेह-मग्न, अतल जल में वह जाओगे ? (यह है अपरिचित चितवन जो कभी किसी के लिए परम परिचित थी, ऐसी परिस्थिति में क्या असर पैदा करती है, समझदारों के मन में यह समझने की है। पहले जिस तरह प्रेमिका निष्कलङ्क होकर प्रभा-सी सामने आई थी, अब उसी तरह, दूसरे को सहारा देकर बहती हुई, अपरिचित चितवन से पहले के प्रिय को देखकर, मग्न, सम्बद्ध, अतल-अगाध जल में अछोर की ओर बहती जा रही है। इस तरह दो सम्बद्ध रूपों की कला अपार अदृश्य की ओर वह गई है। प्रथम प्रिय शृङ्गार की सहानुभूति के लिए अपरिचित चितवन आपको दे रहा है।)

हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्त-वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नही जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। इनके छन्द को मै मुक्तछन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गाई जा सकती हैं। पर सङ्गीत अँगरेजी ढंग का है। इस गति को मै 'मुक्त गीत' कहता हूँ।

'बादल-राग' शीर्षक से छः रचनाएँ इसी मुक्त-गीत में हैं। दूसरी का उद्धरण देता हूँ—

ऐ निर्बन्ध ! अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !
ऐ स्वच्छन्द !—मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल !
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण ! बाधा-रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन ! सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट् !

ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न !

छिन्न-भिन्न कर पत्र पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र घोष से ऐ प्रचण्ड ! आतङ्क जमाने वाले ।

कम्पित जङ्गम—नीड़ विहङ्गम,
ऐ न व्यथा पाने वाले ।
भय के माया मय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !"

पहला सीधा अर्थ बादल के लिए है—"हे बन्धनविहीन !—दुर्गम घोर अन्धकार में मुक्त—बादल ! हे स्वतन्त्र ! मन्द और तीव्र गति से चलते हुए समीर के रथ पर बैठे उच्छृङ्खल हे उद्दाम ! संसार की अपार आशाओ के जीवन ! हे अबाध—विराट् !—बाढ़ बहाने वाले ! सावन से घोर हुए गगन के सम्राट् ! न टूटने वाले संसार पर छूट कर टूट पड़ने वाले ऐ उन्माद-जैसे !—विश्व के वैभव को लूट-लूट कर लड़ने वाले अपवाद रूप ! सौन्दर्य को बिखेर कर, मुख फेर कर कली को ऐ कठिन पीड़ा देने वाले ! पत्र, पुष्प, पौदे, वन और उपवन को छिन्न-भिन्न कर वज्र की गर्जना से ऐ आतङ्क जमाने वाले प्रचण्ड ! सचल जीव और नीड़ों के पक्षी काँप रहे हैं फिर भी उनके लिए व्यथा न पाने वाले ऐ विप्लव (अतिवृष्टि, प्लावन) के नये बादल ! भय के भ्रमपूर्ण आँगन पर गरजो।"

यह सीधा अर्थ है। पर उद्देश यह अर्थ नहीं। अन्तिम पंक्ति का 'विप्लव' सारा ठाट बदल देता है। व्यंग्यार्थ सामने आ जाता है, 'विप्लव, एक ऐसा शब्द है जो मूल में वाच्यार्थ के अनुकूल जल-राशि का अर्थ रखता हुआ, पहले के हुए प्रयोग के अनुसार अर्थात् दूसरे अर्थ से युगान्तर--क्रान्ति की याद दिलाता है। यह युगान्तर साहित्यिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक जिस तरफ भी चाहें, फेर सकते हैं। 'विप्लव' शब्द के साथ जो भाव जगता है, वह अन्य शब्दों की लक्षणा-शक्ति से पूरे वाक्य को दूसरे

सार्थक रूप (Secondary Meaning) में बदल देता है; बाद को सारा पद्य पूर्णार्थ व्यंग्य में बदल जाता है।

'भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर!'—

इसमें आये 'भय' के विषय जीव-वस्तुओं का वर्णन पहले हो चुका है यानी बादल जिन पर अत्याचार करता है, उनके नाम गिनाये जा चुके हैं। यहाँ 'विप्लव' की लाक्षणिकता के फूटते ही सारे शब्द-पद लाक्षणिक हो उठते हैं और उनसे पैदा हुआ व्यंग्यार्थ स्पष्ट प्रतीयमान होने लगता है।

भय के = जहाँ हृत्कम्प होता है अर्थात् जहाँ पाप है उसके;

मायामय = भ्रमपूर्ण, अस्तित्वरहित, पाप छायामय है—भ्रम-विशेष सत्य नहीं;

आँगन पर = मध्य गृह पर, उसके केन्द्र पर;

गरजो = निर्भय शब्द करो, उसे मिटाने के लिए;

विप्लव के = युगान्तर के, परिवर्त्तन के;

नव जलधर = नये जीवन वाले, नई जान वाले ऐ बादल-रूप!

पूरा वाक्य = ऐ युगान्तर के नवीन जीवन वाले! पाप के केन्द्र पर निर्भय होकर शब्द करो—बोलो—गरजो!

इसके बाद शुरू से सारी पंक्तियाँ इस अर्थ के अनुकूल आ जायँगी। देखिए—'बिना आँखों के दुर्गम अँधेरे में (अँधेरे के आँखें इसलिए नहीं कि वह पाप है, उसमें सत्य, प्रज्ञा-चक्षु नहीं। दुर्गम इसलिए है कि वहाँ जाते त्रास होता है!) बिना रुकावट के विचरनेवाले ऐ बादल रूप! ऐ स्वतन्त्र! मन्द और चञ्चल भाव-रूप समीर रथ पर ऐ उच्छृङ्खल!—(वायु भीतरी होकर भाव का रूप प्राप्त करती है; इसी से 'जिधर हवा वही उधर रुख किया' लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है—भाव की जैसी धारा रही, वैसे हम रहे या चले) ऐ साहसी! अपार, अनन्त आशाओं के जीवन!—(अनेक भविष्य आशाओं को उससे जीवन मिलता है—वे पुष्ट

होकर फलवती होती हैं।) हे मुक्त! हे विशाल! हे युगान्तर की—भिन्न भावनाओं की बाढ़ बहा देनेवाले! सावन के-से समाच्छन्न मनोनभ के ऐ सम्राट्! न टूटनेवाले (भाव. विषय) पर छूट कर टूट पड़नेवाले (आक्रमण करनेवाले) ऐ उन्मादरूप! विश्व के वैभव को (जो ऐश्वर्य ऐश्वर्य के भाव से गिर कर कलुषित हो चुका है, उसे) लूट लूट कर लड़नेवाले ऐ अपवाद-रूप!—(नासमझ बदनाम करते हैं, इसलिए) श्री (जिस खूबसूरती में पाप है; पाप से, बुरे कार्यों से जो सौन्दर्य गढ़ा गया है, उसे) बिखेरकर चेहरा फेरकर उच्चता और सुन्दरता पर इतरानेवाली कलीस्वरूपा किसी को निष्ठुर होकर पीड़ित करनेवाले पत्र-पुष्प-पौदे-वन उपवन-जैसे प्राचीन विरोधी वस्तु-विषयों को (भाव-रूप से) छिन्न-भिन्न कर वज्र की जैसी गर्जना से ऐ प्रचण्ड! (न मानने वाले स्वार्थ परों पर) अपनी सत्ता का भय पैदा कर देनेवाले!—चलते फिरते और नीड़ विहङ्गम-रूप, घर में रहने वाले जन काँप रहे हैं—फिर भी उनके लिए व्यथा न पानेवाले—सहानुभूति न रखनेवाले (कारण, वे इस नवीन सत्ता को स्वीकृत नहीं करते ऐ! भय के—उनके इस पाप-कम्प के भ्रमपूर्ण केन्द्र पर युग-प्रवर्तन के नवीन जीवन वाले! गम्भीर ध्वनि करो।”

समझने के लिए कुछ विद्वत्ता की तो आवश्यकता है ही। जो जन काव्य के लक्षणों से परिचित हैं, उन्हें असुविधा न होगी। यहाँ भी यह बीस पंक्तियों का पद्य एक ही भाव रखता है। फिर भी किस तरह बादल के भीतर से चलता है, पाठक समझें। क्या कोई ऐसे पद्य के लिए कह सकता है कि इसके एक टुकड़े का उद्धरण काव्य और सौन्दर्य का बोध कराने के लिए काफी होगा? युगान्तर की भिन्न-भिन्न धाराओं की तरफ विज्ञ काव्य-मर्मज्ञ इसे घटाकर देखेंगे तो इसे पूरा उतरता हुआ ही पायेंगे। बुराई के खिलाफ बग़ावत का ढंग यहाँ कला है। विकसित रूप स्पष्ट कर दिया गया है।

"जागो, जीवन-धनिके !
विश्व-पण्य-प्रिय वणिके !
दुःख-भार भारत तम-केवल,
वीर्य-सूर्य के ढँके सकल दल,
खोलो उषा-पटल निज कर अयि
छविमयि दिन-मणि के !
गहकर अकल तूलि रँग रँगकर
बहु जीवनोपाय, भर दो घर ;
भारति, भारत को फिर दो वर
ज्ञान-विपणि-खनि के।
दिवस-मास-ऋतु-अयन-वर्ष भर
अयुत-वर्ण युग-योग निरन्तर
बहते छोड़ शेष सब तुम पर
लव-निमेष-कणिके !"

यह गीत भारत की ऐश्वर्य-शक्ति पर लिखा गया है। मतलब गीत से ही हासिल होगा—"प्राणों की धनि के ! (जीवन-जीवन में धनिका-रूपिणी अधिष्ठात्री लक्ष्मी के लिए सम्बोधन है) जागो (अपनी परिस्थिति का विचार कर चारों ओर देखो। इस तरह यह भाव प्रत्येक मनुष्य के लिए भी लागू हो सकता है।)—ऐ संसार भर की (बिकने वाली) वस्तुओ से प्रेम करनेवाली वणिके ! (भारत की दृष्टि भारत के भीतर के व्यवसाय में ही नहीं, बाहर भी जाय, समस्त संसार में फैले, यह भाव यहाँ व्यंजित है।)

"इस समय भारत दुःख का भार हो रहा है। उसमें केवल अन्धकार ही अन्धकार है। उसके वीर्यरूपी सूर्य के समस्त दल—समस्त कलाएँ—छिप गये हैं। अयि दिन की मणि मस्तक पर लगाये हुए छविमय, उसके ऊषा के द्वार अपने हाथ से खोल दो (ऊषा से अर्थ वाणिज्य के उषःकाल से है। जिस तरह एक

गृहदेवी द्वार खोलती है, यहाँ लक्ष्मी उसी तरह सूर्य की मणि मस्तक पर लगाये वाणिज्य की ऊषा का द्वार खोलती है। ऊषा की ललाई में द्वार का रूप है। खुलते ही दिनमणिका देख पड़ती है। फिर प्रकाश से जैसे श्री का प्रकाश आता है।)

'हाथ में अकल तूलिका ('अकल' शब्द ब्रह्म का विशेषण है; इस तरह मतलब है सब रूप और गुणों से पूर्ण) लेकर जीवन के अनेकानेक उपायों को रँगकर जीवन-निर्वाह के उपायों की तस्वीरें खींचकर बताकर कि इस-इस तरह जीवन की सार्थकता करो, घर भर दो (भारत को पूर्ण कर दो)। हे भारति, (यहाँ 'भारती का अर्थ सरस्वती करने से ठीक न होगा, कारण, 'भारती' का 'भर तनोधि' से बना धातुगत अर्थ यहाँ है; सिद्धि में इसके बाद भी एक पेंच है; खैर, अर्थ वही भरने वाली है जिससे लक्ष्मीवाला भाव ही पुष्ट है। यहाँ 'भारती' के सरस्वती अर्थ की भी सार्थकता की जा सकती है; पर मेरा मतलब लिखते समय धातुगत अर्थ से था।) भारत को फिर. खान बाज़ार और ज्ञान का वर दो (जिससे वह यह सब समझे।)''

हे लवनिमेष-कणिका मात्र में अवसित तुम! (कवि लक्ष्मी की अणिमाशक्ति से छोटे स्वरूप का बयान कर उसी में आई सारी महत्ता दिखलाना चाहता है) दिन, मास, ऋतु, अयन और वर्ष को भरकर अनेक रंगोंवाले युग (अनेक भाव और कृत्यों से रञ्जित युग) सदा अपने शेष चिह्न तुम पर छोड़कर बहते हैं (चले जाते हैं)। इसका भावार्थ है अनेकानेक काल की कहानियाँ, शक्तियाँ एक लव, एक निमेष, एक कण में प्राप्त हो सकती हैं; वे सब यहाँ निहित हैं; इसलिए भारत की लक्ष्मी-शक्ति का लघुरूप हो जाने पर भी, समस्त विराट् रूप, समय के वहाँ निहित हैं,— उनके ऐश्वर्य से वह लक्ष्मी-शक्ति युक्त है। वह प्रबुद्ध हो – जागे।

यहाँ लक्ष्मी के विराट् रूप से चलकर उनके लवरूप में विराट् को अवसित जो करती है, वह कला है—

"रे अपलक मन !
पर-कृति में धन-आपूरण ।
दर्पण बन तू मसृण सुचिक्कण,
रूपहीन, सब-रूप-बिम्ब धन,
जल ज्यो निर्मल-तट छाया-घन,
किरणों का दर्शन ।
सोच न कर, सब मिला. मिल रहा,
भर निज घर. सब खिला, खिल रहा,
तेरे ही दृग रूप-तिल रहा,
खोज, न कर मर्षण ।
दृष्टि अरूप; रूप लोचन युग,
बाँध, बाँध, कवि बाँध पलक-भुज,
शून्य सार कर, कर तज भूरुज
घन का वन-वर्षण ।"

"रे निष्पलक (अपलक स्थिति में चिन्ता करना जाहिर होता है, इसलिए इस शब्द का यहाँ भीतरी मतलब है 'चिन्तायुक्त') मन ! श्रेष्ठ कृति में धन का पूर्ण भाव है. (जो कृति श्रेष्ठ है,) उसमें धनत्व भी है—यह पन्तजी के 'मूर्तिमान् बन निर्धन !' पर है ।

'तू उज्ज्वल ऐसा चिकना आइना बन, जो रूपहीन होकर सब रूपों को बिम्बित करनेवाला हो (ऐसा अरूप आईना बन जा कि सब रूप उसमें विम्बित हों;" अक्लेद होने पर मनुष्य देह-बुद्धि से भी रहित हो जाता है, यह सन्तों की अनुभूति और शास्त्रों की उक्ति है ।) जल की तरह निर्मल हो, जिस पर तट की छाया पड़ी हुई (प्रति-फलित) है, (इस प्रकार यहाँ अरूपता, शून्यता भी उत्तम है और धनत्व भी है । अरूपता, शून्यता ब्रह्मभाव श्रेष्ठ है, यह आप व्यंजित है ।) किरणों का दर्शन बन (किरणों से प्रकाश की अरूपता का भाव है; उन्हीं के भीतर हम

एक दूसरे को देखते हैं, मिलते-जुलते वार्तालाप करते हैं। किरणों का दर्शन बन अर्थात् अरूप होकर रूप-लोक में रह; अरूप होने पर यह रूप लोक इसी तरह तेरे (ज्ञान के) भीतर रहेगा।)

"तू चिन्ता न कर। सब मिला है और मिल रहा है। अपना वर (अभ्यन्तर) भर (विकास की बातों से पूर्ण कर); सब खिला हुआ है और खिल रहा है। तेरी ही आँखों में रूप का तिल है (यहाँ भी अरूपता का रूप गोल शून्याकार तिल में देता है। जहाँ समस्त रूप बिम्बित होते हैं, जो समस्त रूपों का धन है।) खोज, बैठा न रह। (आँख के तिल की तरह कैसे अरूप होगा, इसकी तलाश कर; विकाश की बातों से कैसे तू अपने को पूर्ण करेगा, खोज।)

"दृष्टि अरूप है और दोनों आँखें रूप। हे कवि तू पलकों की भुजाओं से बाँध, बाँध। (दोनों आँखों के रूप बताकर दक्षिण और वाम द्वारा सृष्टि के 'नर और नारी' रूप की ओर इङ्गित करता है। पहले एक अरूप के लिए कहा कि वह दृष्टि है, फिर रूपसृष्टि के लिए कहा—दो हैं, वे आँखें हैं। दोनों आँखों में एक ही दृष्टि है। फिर कवि को चार पलकों की भुजाओं से बाँधने के लिए कहा। इस तरह दोनों रूप हाथ बाँधकर अपनी एक ही अरूप सत्ता का ध्यान कर रहे हैं और अरूप और रूप दोनों, कवि मे रहकर, उसे भी इस भाव की विभूति से सुन्दर कर रहे हैं—वह भी अरूप सत्ता का ध्यान करता हुआ-सा बन जाता है। पलकें बन्द कर लेने के कारण, और यही रूप में रहने की कला और भाव दृष्टि से, बाहरवालों—देखनेवालों की आँखों में, श्रेष्ठता होती है, यह दिखाया गया है।) (इस प्रकार) शून्य को सार कर (अरूपता को मूर्तिमत्ता में परिवर्तित कर उत्तम बना) ऐसा करके भूरुज का त्याग कर ('रुज' यहाँ 'रोग' के लिए व्रजभाषा से आया शब्द है। भूरुज=पृथ्वीगत व्याधि, संसार का रोग)। (इस तरह यह) बादल का वन में बरसना है

शून्य, वाष्परूप बादल वन में बरसता है तो शून्य सार बनता है— बरसने की सार्थकता होती है समुद्र में बरसता है या मरुभूमि में तो ऐसी निरर्थकता होती है।

मुझे अनेक उदाहरण देने थे। इतने से थोड़े भावों की व्याख्या हुई है।

९—अजंता

[श्री राय कृष्णदास]

अजंता का परिचय

जी० आई० पी० एवं ताप्ती वैली रेलवे के जलगाँव, निजाम रेलवे के औरंगाबाद तथा पचोरा-जामनेर रेलवे के पहूर स्टेशनों से सुगमतापूर्वक अजंता तक पहुँच सकते हैं। इन स्टेशनों से फरदापूर नामक ग्राम तक जाना होगा। उसी के निकट पहाड़ियों में अजंता के कला-मडप छिपे पड़े हैं।

फरदापूर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है जिसे अजंता जाते समय एक बार पार करना पडता है। नदी मे सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि जब तक एक दम पास न पहुँच जायँ तब तक गुफाओं का गुमान भी नहीं होता। नदी का अंतिम घुमाव समाप्त होते ही प्रायः तीन सौ फीट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार सा खड़ा, एक टीला पहाड़ से निकला दिखाई देता है, जो एक गगनचुम्बी प्रासाद सा लगता है। उसके बीचो-बीच बारह-दरियों की एक कतार-सी दिखाई देती है। ये ही अजंता की गुफाएँ हैं जो प्रवेश-द्वार से लेकर ठेठ अत तक भक्ति, उपासना, धैर्य, प्रेम और लगन एवं हस्त-कौशल की संसार भर मे सबसे अपूर्व उदाहरण हैं। यहाँ मूर्ति, चित्र और वास्तु-कलाओं मे एक ही उच्च एव पवित्र भावना सुसबद्ध शृङ्खला के रूप में स्फुट हुई है जिसकी सफलता संसार भर में अतुल है। एकांत और प्राकृतिक

सौंदर्य की दृष्टि से भी अजंता अद्वितीय है। नीचे नदी बहती है। उसमें बड़े बड़े शिलाखंड हैं। उनसे टकराता हुआ पानी गुफाओं के ठीक नीचे एक कुंड में इकट्ठा होता है। घाटी में चारों ओर हरसिंगार का जंगल है। साथ ही और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल यहाँ उत्पन्न होते हैं। इसी कारण चित्र-विचित्र पक्षियों का एक मेला सा लगा रहता है। कला की अभिव्यक्ति के लिए जिन लोगों ने ऐसे अपूर्व स्थान को चुना उनके चरणों में शत शत प्रणाम है। यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य का पूर्ण विकास अक्तूबर से दिसम्बर तक होता है।

अजंता में छोटी बड़ी कुल उन्तीस गुफाएँ हैं। इनके दो भेद हैं—एक स्तूप-गुफा, दूसरी विहार गुफा। स्तूप-गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी, इसलिए वह अधिक लम्बी होती है और उसके अंतिम छोर पर एक स्तूप होता है जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर खंभों की पंक्ति रहती है। अजंता की उन्नीसवीं गुफा वहाँ की सबसे बड़ी स्तूप-गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीय है।

विहार गुफा भिक्षुओं के रहने और अध्ययन के लिए होती थी। ये दोनों प्रकार की गुफाएँ और इनमें का सारा मूर्ति शिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है; किन्तु क्या मजाल की कहीं पर एक छेनी भी अधिक लगी हो। इस दृष्टि से सभी गुफाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं; किन्तु गुफा नं० १ का, जो एक सौ बीस फीट तक भीतर काटी गई है, कौशल तो एक अचंभा है। प्रायः सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे जिनमें से १,२ १६ और सत्रहवीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। सौभाग्यवश ये सभी गुफाएँ गुप्त-कालीन हैं। शेष गुफाओं में कहीं किसी का सुन्दर मुख, कहीं खंडित हाथ-पैर, कहीं घोड़े-हाथी वा उनके सवारों के अंग इत्यादि बच गये हैं।

अजंता का पुनः आविष्कार और जीर्णोद्धार

हज़ारों बरस के अज्ञातवास के बाद संसार को अजंता का फिर से पता १८२४ ई० में लगा, जब जनरल सर जेम्स ने जाकर उसे देखा और उसका संक्षिप्त लिखित परिचय रायल एशियाटिक सोसाइटी को दिया। १८४३ ई० में भारतीय वास्तु और मूर्ति के प्रेमी फर्ग्युसन ने उसका विशद् विवरण लिखकर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। फलस्वरूप १८४४ ई० से १८५७ ई० तक ईस्ट-इडिया-कंपनी ने वहाँ के चित्रों की करीब तीस प्रतिलिपियाँ तैयार कराई जो इंगलैंड के क्रिस्टल पैलेस में प्रदर्शित की गई। किन्तु अभाग्यवश १८६६ ई० में आग लगने के कारण वे जल गईं। यदि वे बची होतीं तो आज अजंता के चित्रों का ऐसा बहुत सा अंश हमें उपलब्ध होता जो तबसे, झड़कर वा दूसरी तरह नष्ट हो गया है! १८७२ ई०—१८८१ ई० में बम्बई-आर्ट-स्कूल के प्रिंसिपल ग्रिफित्स ने स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से पुनः वहाँ की प्रतिकृतियाँ तैयार कीं, जो दो बड़ी जिल्दों में, विवरण के साथ, प्रकाशित की गई। ये चित्र भी लंदन में भारत मंत्री के दफ्तर में भेज दिये गये; किन्तु इन्हें भी इंगलैंड का प्रवास न रुचा और ये भी भस्म हो गये। इसके बाद १९१५ ई० में लेडी हेरिंघम् कई भारतीय चित्रकारों के साथ—जिनमे श्री नदलाल वोस भी थे—वहाँ गईं और अनेक कठिनाइयों से उन्होंने वहाँ के कितने ही घटनामूलक चित्रों की नकल करवाई। लंदन की इंडिया सोसाइटी ने निजाम सरकार की सहायता से इन प्रतिकृतियों का एक संस्करण निकाला। इसी समय से निजाम सरकार ने इन गुफाओं की ओर ध्यान दिया। फलतः वहाँ जो कुछ वचा है उसके संरक्षण और देखने का बढ़िया से बढ़िया प्रबंध हो गया है। श्री सैयद अहमद वहाँ के अध्यक्ष नियुक्त हुये। वे लेडी हेरिंघम् के चित्रकारों के दल मे थे। अध्यक्ष होने के वाद उन्होंने वहाँ के चित्रों की जो नकलें की हैं वे सबसे प्रामाणिक और तद्वत् हैं। १९२६ ई० में

औंध-नरेश श्रीमान् बाला साहब पंत प्रतिनिधि ने भिन्न-भिन्न प्रान्त के अनेक चित्रकारों से, वर्त्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से, गुफा के कुछ चित्रों की नकल कराई और अँगरेजी तथा मराठी में उनके संस्करण निकालकर उन्हें अपेक्षाकृत सुलभ कर दिया। निज़ाम सरकार ने भी वहाँ के कुछ सुलभ पोस्टकार्ड निकाले हैं और वह चार जिल्दों में बड़े आयोजन के साथ, एक प्रामाणिक चित्रावली निकाल रही है।

अजंता का चित्रण-विधान

यह विधान सूक्ष्म रूप में इस प्रकार था कि दीवार या पाटन में, जहाँ चित्रण करना होता था वहाँ का पत्थर टपरकर खुरदरा बना दिया जाता था; जिस पर गोबर, पत्थर का चूर और कभी कभी धान की भूसी मिले हुए गारे का लेवा चढ़ाया जाता था। यह लेवा चूने के पतले पलस्तर से ढँका जाता था और इस पर ज़मीन बाँधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र टोपे जाते थे-जो रंग लगाकर तैयार किये जाते थे। ऐसा अनुमान होता है कि मूर्तियों पर भी पतला पलस्तर करके रंगाई की हुई थीं।

अजंता के गुप्त-शैली के चित्रों की मुख्य विशेषताएँ

इन चित्रों की तैयारी की खुलाई (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और इरानी चित्रकारी की वे सपाटे वाली कोणदार रेखाएँ नहीं हैं जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल, बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके वा बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई उभार और गहराई (डौल) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंग-भंगी की भाषा से अर्थात् भाव

वताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व करुणा अर्थ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान् बुद्ध की भावना की मूर्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अगो और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे चराचर जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है।

मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुन्दर राज-परिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध निर्दय वधिक प्रशान्त तपस्वी, साधु-वेशधारी धूर्त्त, कुलाङ्गना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख-सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिंता आदि भाव भी उनमें इसी प्रकार बड़ी खूबी से दरसाये गये हैं।

यदि कलावत ने सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है अर्थात् उसके लिए सुरूप और विरूप दोनो ही में समान सौंदर्य है। इस कला में ओज और सौकुमार्य्य दोनों ही की समान सफलता के साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमे कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है। क्या चित्रस्थ पात्रों की वेश भूषा में और क्या खँड़हर (रिक्त स्थान) की पूर्ति के लिये जो तरहें बनी हैं, उनमें।

तरहों की तो अजता खान है। छतों मे आकाश के अभिप्राय वाले फुल्ल महाकमलों के चौके, जिनके चारों कोनों पर दिगंतों

में अंतरिक्ष-विहारी देवयोनि बने हैं, पचासों प्रकार के होंगे। कमल के जंगल की बेलें (आकृति २), कमलों की मुर्रियाँ, आलंकारिक पत्ते की पूँछ वाली गौओं की लपेटदार बल (आकृति ३) गोमूत्रिका, झालर, बंदनवार आदि न जाने कितनी ही प्रकार की तरहों से यह चित्रसारी भरी हुई है। उनमें स्थूल एवं सर्व मानवों, हाथी, बैल, हंस आदि पशु पक्षियों, आम इत्यादि फलों; रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितिक आकृतियों का स्थान स्थान पर उपयोग किया गया है; किन्तु प्रधानता कमल की है जो अनेक रूप होकर सर्वत्र व्याप्त है।

अजंता के गुप्त-शैली के कतिपय चित्र

पहली गुफा में की एक दालान की समूची दीवार पर प्रायः बारह फीट ऊँचा और आठ फीट चौड़ा मार विजय का चित्र अंकित है। 'मार' (=प्रलोभन, कामदेव, शैतान) की सेना भगवान् बुद्ध को घेरे हुए है। इस सेना में भगवान् को डराने, क्रुद्ध करने, क्षुब्ध तथा लुब्ध और सकाम करने के लिए विकटातिविकट मूर्तियों से लेकर अनेक कामिनियाँ तक बनी हैं जो अपने-अपने उपायों से भगवान् को, जो मध्य में स्थित हैं, विचलित करने में प्रवृत्त हैं; किन्तु वे आत्मानिरत हैं। मानो उनके लिये चारों ओर कुछ हई नहीं है वा हो हा नहीं रहा है।

इस गुफा में केवल सध्या के समय सूर्य की अंतिम किरणें प्रवेश पाती हैं। अतएव बड़ा आश्चर्य होता है कि यहाँ ऐसे-ऐसे चित्र कैसे अकित किये गये होंगे।

चंपेय जातक की कथा है कि बोधिसत्व ने किसी समय नाग-राज का जन्म लिया था और संयोगवश बंदी होकर काशी की हाट में बेचने के लिए लाए गए थे। उन्हें उस परिस्थिति से छुड़ाकर काशिराज अपने यहाँ ले गए और उनके सारे परिवार को भी निमंत्रित किया। इसका चित्र भी उक्त गुफा में है। एक ओसारे में नागराज तथा काशिराज एक राजासन पर आसीन हैं। चारों ओर राज-महिलाएँ तथा राज-परिकर घेरे हुए हैं।

नागराज काशिराज को उपदेश दे रहे हैं। चित्र के प्रत्येक व्यक्ति का भाव और मुद्रा बड़ी सफलता से अंकित है एवं उसका संयोजन गुथा हुआ है।

यहीं पर अवलोकितेश्वर का विशाल चित्र है। दाये हाथ मे नील कमल धारण किए किञ्चित् त्रिभंग-युक्त भगवान् तात्त्विक विचार में मग्न हैं। उनकी समस्याएँ उनके हृदय मे आंदोलित हो रही हैं। विश्व-करुणा से वे ओत-प्रोत हैं। उन भावो को चित्रकार ने पूर्ण सफलता से उनके मुख-मंडल पर लिखा है। देव-सृष्टि, मानव-सृष्टि विशेपतः उनकी अर्धांगिनी यशोधरा पर उनके इन भावों का जो प्रभाव पड़ रहा है वह भी बड़ी कुशलता से दिखाया गया है।

सोलहवीं गुफा के दो चित्र उल्लेखनीय हैं—गहरी रात मे भगवान् बुद्ध गृह त्याग कर रहे है। यशोधरा और उनके संग शिशु राहुल सोया हुआ है। पास की परिचारिकाओ पर भी निद्रा ने अपनी मोहिनी डाल रखी है। इस दृश्य पर एक निगाह डालते बुद्धदेव अंकित किए गए है। उस दृष्टि में मोह-ममता नहीं, प्रत्युत उसका अंतिम त्याग है। यही इस कृति का रहस्य है।

एक स्थान पर एक मरती हुई राजकुमारी का चित्र है। उसके बचाने के सभी उपाय अवश्यम्भावी के आगे व्यर्थ हो गए हैं। मुमूर्षु की अवस्था और आस पासवालों की विकलता दर्शक को द्रवित किए बिना नहीं रहती।

अजंता की सत्रहवीं गुफा के सभी चित्र एक से एक बढ़कर है। ऐसा जान पड़ता है कि सबसे चतुर चितेरों ने इसी गुफा में अपनी कला दिखाई है।

यहाँ पर एक तो माता-पुत्र का प्रसिद्ध चित्र है, किन्तु इससे चित्र के विपय का आधा ही ज्ञान होता है। यहाँ तो हम इतना ही देखते हैं कि एक माता अपने पुत्र को किसी के सामने साग्रह उपस्थित कर रही है और पुत्र भी अंजलि-सी पसारकर उस व्यक्ति

के सामने उपस्थित है; किन्तु कौन है वह व्यक्ति जिस पर इन दोनों की टकटकी लगी हुई है! इन आदम-कद चित्रों के सामने एक विशाल महापुरुष स्थित है, जिसके हाथ में भिक्षा-पात्र है। बुद्धत्व-प्राप्त करने पर जब भगवान् पुनः कपिल वस्तु में आए, तो उन्हें यशोधरा राहुल से बढ़कर और कौन-सी भिक्षा दे सकती थी! आत्म-समर्पण की पराकाष्ठा का यह चित्र अपना जोड़ नहीं रखता।

यहाँ छद्दंत जातक की चित्रावली भी बड़ी सुन्दर है। बोधिसत्व एक जन्म में छः दाँतों वाले श्वेतवर्ण गजराज थे। उनके दो हथिनियाँ थीं, जिनमें से एक ने सौतियाडाह-वश आत्म-हत्या कर ली और एक राजा के घर जन्म लिया। इस जन्म में भी उसकी डाह कम न हुई और उसने व्याधों को गजराज का सिर ले आने के लिये भेजा। यह जान कर वह आप व्याधों के सामने आ खड़े हुए। इससे व्याधों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे राजकुमारी को फुसलाने के लिये उनके छहों दाँत काट लाए। इस बीच राजकुमारी के मन में प्रतिघात हुआ था, सो दाँतों को देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। अंत में सारे रहस्य का भेदन होता है और गजराज क्षमा का उपदेश प्रदान करते हैं। यह समूची चित्रावली ऐसी सजीव है मानो सारा दृश्य हम अपनी आँखों देख रहे हों। कमल की भाँति हाथी भी भारतीय कला का एक मुख्य अंग है। इस चित्रावली में विविध विधि प्रवृत्त हाथी के जंगल का आलेखन है और ऐसा सफल आलेखन है कि अवाक् रह जाना पड़ता है। याद रखना चाहिए कि यह सारा अंकन भावगम्य है।

इसी प्रकार यहाँ हाथियों की एक दूसरी चित्रावली भी है। यह गज-जातक का चित्र है, जिसकी कथा इस प्रकार है—

भगवान् एक जन्म में हिमालय के श्वेत हस्ती थे। वे ही अपनी वृद्ध माता तथा अंध पिता का पालन करते थे। प्रयाग के राजा ने गजराज की प्रशंसा सुनकर पकड़वा मँगवाया, किन्तु वे कुछ खाते-पीते न थे। जब उनके इंगित से प्रयाग के अधिपति ने यह

बात जानी तो उन्हें मुक्त कर दिया। शीघ्र ही वे अपने माता पिता के पास पहुँचे। यह मिलन का दृश्य हाथियों के कौटुंबिक प्रेम, वात्सल्य और करुणा से ओत-प्रोत है।

वेस्संतर-जातक का दृश्य भी बड़ा मर्मस्पर्शी है। इसमें एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एकमात्र अल्प वयस्क पुत्र को माँग लेता है जिसे राजकुमार सहर्ष प्रदान करता है। प्रस्तुत चित्र मे क्षीणकाय ब्राह्मण का दाँत निकालकर माँगना, अपनी पर्णकुटी में बैठे वनवासी बोधिसत्व राजकुमार का बिना किसी क्षोभ वा उद्वेग के उसकी याचना स्वीकार करना और भरी देह वाले भोले बालक का इस भाव से अपने पिता का मुँह देखते रहना कि यह आदेश दे और मै उसका पालन करूँ, बड़ी भावुकता से अकित है। यह (—फलक ४) चित्र हृदय पर करुणा की गहरी छाप लगा देता है।

एक अन्य जातक दृश्य में युद्ध का प्रसग बड़ी सजीवता से दिखाया गया है। इस बड़े चित्र में लगभग तीन सौ चेहरे आज भी गिने जा सकते हैं। प्रत्येक चेहरे पर युद्ध के विविध भाव देखनेवालों को चकित कर देते हैं।

एक स्थान पर आकाशचारी दिव्य गायकों के समुदाय का बड़ा रमणीय आलेखन है।

इस गुफा का सर्वस्वान्त का सदेश विषयक चित्र भी बड़ा प्रभावोत्पादक है। आशा के सहारे एक वृद्ध कंचुक खड़ा है। उसके आर्त नेत्र ही सारी कथा कह रहे हैं, मुँह से कहने की कोई आवश्यकता नहीं। दाहिने हाथ की मुद्रा से रहे सहे की सूचना मिल जाती है। इस चित्र की रेखा-रेखा में भाव और दम-खम भरा है।

यहाँ महाहंस जातक और सिबि-जातक आदि के भी उत्कृष्ट आलेखन हैं।

अजंता के उक्त थोड़े से चित्रों के वर्णन को बटले में का एक चावल समझना चाहिए। नहीं तो केवल इसी वर्णन के लिए एक स्वतंत्र पुस्तक होनी चाहिए।

अजंता की चित्रकला को वा प्राचीन भारत की .मूर्ति-कला को कितने ही लोग बौद्ध कला कहा करते हैं। यह सरासर भूल है। भारत मे ब्राह्मण, बौद्ध वा जैन-कला की-सी कोई वस्तु कभी नहीं रही। प्राचीन-कला पर यदि कोई प्रभाव है तो राजनीतिक कालों का। हाँ, अजंता के अनेक चित्रों के विषय अवश्य बौद्ध हैं।

इस काल के अन्य भित्ति-चित्र

प्राचीन चित्रित स्थानों की अभी तक ठीक-ठीक खोज नही हुई है। जितने भी स्थान मिले हैं, संयोगवश अभी न जाने कितने चित्रित मदिर और मिलेंगे। संप्रति, भारत में अजंता के सिवा और कहीं गुप्त-कालीन चित्र नहीं पाये गये। हॉ सिहल के सिगिरिया (सिंह-गिरि) नामक पर्वत में, जो एक प्राकृतिक गढ़ी जैसा है, दो उथली खोह है, जिनमें पॉचवीं शती के भित्ति-चित्र बने हुए हैं। पंद्रह सौ वर्ष तक हवा खाते हुए भी यह कहीं से बिगड़े नहीं। इनकी शैली अजंता के सन्निकट है। इनमें आकाश-चारिणी देवांगनाऍ अंकित हैं, जैसा कि उनके निचले धड़ तक के और चारो ओर के बादल से जान पड़ता है। वे या तो हाथो में फूलो से भरा थाल लिये हैं या पुष्प-वृष्टि कर रही है। उनकी आकृति कांतिमती और आलेखन बड़ा सुबुक है। चित्रकार की वर्णिका पीले, हरे, काले और कई प्रकार के लाल रंगों की है।

गुप्त कालीन चित्रकला का वाङ्मय में उल्लेख

यों तो अजंता की कला सर्वथा धार्मिक है; किंतु उसके विषय जितने व्यापक हैं और चित्रकारों ने उन्हें जैसी सिद्धहस्तता से अकित किया है उससे इस सम्बंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन दिनों चित्रण का वस्तु (थीम) बहुत व्यापक था और

चित्रकारों को हर तरह के चित्र बनाने पड़ते थे। ऐसा तभी संभव है जब इस कला का राष्ट्र के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। वाङ्मय से भी यही प्रमाणित होता है। कालिदास की रचनाओं से पता चलता है कि अधिकांश सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रण जानते थे। प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे का चित्र बनाते थे। वियोग में नायक-नायिका एक दूसरे का चित्र देखकर अपना दुःख हलका करते थे। चित्र देखकर विवाह-सम्बन्ध पक्के होते थे। विवाह के साथ देवताओ के संकेत-चित्र बनाकर पूजे जाते थे। शयनागार चित्रित होते थे। जीवन की घटनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और मृत राजाओं के चित्र अंकित होते थे। नागरिकों के घर एव राजप्रासाद चित्रित हुआ करते थे। उनके खम्भे आदि पर जो पुतलियाँ बनी रहती थीं वे भी रँगी जाती थीं। रघुवंश में उजड़ी अयोध्यापुरी के वर्णन में वहाँ के भित्ति-चित्रों में का एक दृश्य दिया है कि हाथी पद्म-वन में हैं और उनकी हथिनियाँ उन्हें मृणाल तोड़ कर दे रही हैं। यह दृश्य अजंता के जल-क्रीड़ा करते हुए हाथियों से कितना मिलता है।

मुद्राराक्षस' से, जिसका समय जायसवाल ने लगभग ४१० ई० स्थिर किया है, पता चलता है कि उस समय के मँगते जीवन की अस्थिरता और यमराज का त्रास दिखाने के लिए कृतांत की आकृति वाले चित्रपट लिये घूमा करते थे और गा-गा कर लोगों को अपना संदेश सुनाते थे। संयोग-वश अजंता में इस दृश्य का एक चित्र भी मौजूद है, जिसमें मुस्तंडे नग्न क्षपणकों का एक दल चला जा रहा है। उनमें के एक महोदय तो ऐसे मोटे हैं कि दूसरो का सहारा लेकर चल पाते हैं। इसी मंडली में एक के हाथ में एक लग्गी है जिस पर उक्त प्रकार का चित्र पट लटक रहा है।

इसी काल के कामसूत्र में नागरिक के शयनागार का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसमें खूँटी पर चित्रण के उपकरण टँगे रहने चाहिए कि जब आवश्यकता हो, उनका उपयोग किया जाय।

बृहत्तर भारत में गुप्तकालीन चित्रकला

इस समय तक भारत का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभुत्त्व दूर दूर तक फैल चुका था। खुतन और चीन में तो बौद्ध सम्प्रदाय पहले ही से चला आता था। समुद्रगुप्त के समय में वह कोरिया में भी पहुँच गया और वहाँ की भाषा उसी समय से हमारी ब्राह्मी लिपि में लिखी जाने लगी। यशोधर्मा के समय से निपन (जापान) देश भी बौद्ध हो गया। भारतीय द्वीपों में हमारा राज्य बोर्नियो के पूरबी छोर तक जा पहुँचा, जिसमें अड़ोस-पड़ोस के सभी द्वीप और मलक्का प्रायद्वीप भी समा गया। बरमा वाकाटक युग में ही भारतीय प्रभाव में आ चुका था।

इन क्षेत्रों में से चीन की अपनी बड़ी उत्कृष्ट चित्रकला बहुत पहले से थी। किन्तु उसकी परवाह न करके भारतीय चित्रकला ने भी, बौद्ध संप्रदाय के पीछे-पीछे, वहाँ पहुँच कर अपनी जड़ जमाई। वहाँ से यह प्रभाव इस काल में कोरिया और जापान तक व्याप्त हुआ। इस समय अन्य क्षेत्रों में भी भारतीय चित्रकला पहुँच चुकी थी, जैसा कि उन क्षेत्रो में पूर्व मध्यकालीन अनेक उदाहरण मिलने से प्रतिपादित होता है।

२०—हानि-लाभ का लेखा-जोखा

[लेखक—श्री गुलाबराय एम० ए०]

मुसलमानों के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखकों से भी नाराज़ रहते हैं; क्योंकि वे भी अपने रचनात्मक कार्यों द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि

से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्यप्रकाश के कर्ता मम्मटा चार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आह्लाद से बनी हुई है। भगवान् की सृष्टि में तो शुद्ध आह्लाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है, किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सुलभ बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठे ? यदि लेखक लोग शब्दो के महल और हवाई किलों के अलावा ईंट चूने के मकान बनाने का भी साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहाँ सहन कर सकते ?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगो ने मुझे लेखकराज बना ही दिया और मै स्वय भी अपने को पॉचवे सवारो में गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपूर से नौकरी छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की जरूरत है; किन्तु मै तो जैन बोर्डिङ्ग-हाउस के लड़कों को कायदे के घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम भी न सँभाल सका। अब यदि अपने पर भी संतुष्ट रहता तो गनीमत थी—बाप-दादो की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिए बैठा रहता तब विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियो में रहते देख (मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब हूॅ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री० भोंदाराम जी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ, और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फल स्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंजिल है और पीछे से दुमंजिला है।

मैं चाहता तो झोपड़ी ही बनाता; परन्तु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिन कर उस पर झोंपड़ी बनाना असम्भव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मैं तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी ब्रिटिश सरकार को टॉपहेवी' कहने में नहीं चूकते, तो मेरे मकान को बॉटमहेवी' कहने से किसका मुँह बन्द किया जाता। 'टॉपहेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का', मेरे पास ऐसा कोइ बहाना भी न था। मैं शहर में रहकर गॅवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा। उसमें डाटे लगाई गई। उस सम्बन्ध मे मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त तथा मेरी श्रीमती जी के बड़े भाई लाला कालीचरण जी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट फटकार बताने का मौका पाया।

अब मै डाट का अर्थ समझ गया। डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिये धूप और मेह के साथ रण मे डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्दकोष (अर्थकोष नही) बहुत बढ़ गया है, अब मैं कुछ, डाढ़ा, चीरा हॉफ-सेट, होल-पास, नासिक चश्मा ठेवी आदि वास्तुकला के पारिभाषिक शब्दो का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम हो गई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाँट का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग मे मूँछें कट-छटकर तितली बनी और फिर तितली बनकर उड़ गई। कोट आधे हो गये। पेंट भी शॉर्ट हो गई। कमीज की बाहें और गले, मुख्तसर बनने लगे। जूतो का स्थान चप्पल और सेण्डलो ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटों में नीचे की

वाजू नहीं होती। सूर के बालकृष्ण को देहली लाँघने में कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती पोतों को नहीं होगी।

अर्थकोप के त्तय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला नदारद'। इधर का लेखा उधर बराबर हो गया और नहीं तो परिवृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उल्टा?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंटे चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन स्वाहा होने लगा और मैं भी घर फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के पास दूसरी पासबुक चुकती हुई फिर कैश सार्टि-फिकिटों पर नौवत आई और पीछे रिजर्व-बैंक के शेयर-वारंट भी, जो भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे वेचारे भी काम आये। मैं 'पुरुष पुरातन की वधू' के मादक ससर्ग से मुक्त हो गया, अस्तु यह थोड़ा लाभ नहीं। कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

'कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायेगा और मैं बौराया न कहाऊँगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता तो मै उसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता; किन्तु धन-मद से लाञ्छित होना मै पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल पर अनन्त श्रद्धा रखता हुआ भी यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग भवानी और वारुणी देवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे तहख़ाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठंढक तो ख़ूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया—"जी हाँ, जब

रुपए की गर्मी न रही, तब ठंढक रहना वैज्ञानिक सत्य ही है।" इस पर उन्होंने तहखानों के सम्बन्ध में सेनापति का निम्नलिखित छंद सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवै,
नद-नदी, कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन वन,
लाग्यौ है तपन, डार्‌यौ भूतलौं तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातै,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानौं सीत-कालै सीत-लता के जमाइवे कौं,
राखें हैं विरंचि बीज धरा में धराइ कै॥"

मैंने कहा—'भाई साहब, वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगों के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नहीं तो गनीमत है।"

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में, शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की-सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करैं, बर्ध मरे या सूखा परै।"

जब घर बनाने के लिए डेढ़ रुपया रोज़ खर्च करके दूसरे के कुँए से पैर चलवा कर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाकपात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु

सिद्ध हुई। जितनी काटते, उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ मे पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में फलो का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूल का नहीं। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।' किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरश. सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात की सिंचाई के बाद भी पत्र और पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियो में शाम तक पानी का लेशमात्र भी नही रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—"जैसे खल के हृदय में संतो का उपदेश।" भगवान् की तरह मै भी कुँए पर खड़ा हुआ रीतों का भरा और भरो का रीता किया करता हूँ। मालूम नहीं भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देगे! इतना सन्तोष अवश्य है कि मेरे कुँए का पानी मीठा निकला है। इसमें पूर्वजो का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुँए का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पड़ती है कि यह नकली नहीं है। "तातस्य कुपोऽयमिति ब्रुवाणः क्षार जल कापुरुषाः पिबन्ति।" अर्थात् बाप दादो का कुआँ है, ऐसा कहकर कायर पुरुष खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती में से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौदों की थोड़ी बहुत पहिचान हो गई है। मै लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों मे विवेक कर सकता हूँ। मै देहली-दरवाज़े रहते हुए भी देहली के उन लोगों मे से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मै यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि वन्ध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार

हजरत नूह की क़िश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा। उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज़ पर मिल जायँगे और बाबा तुलसीदास के शब्दों में यह न कहना पड़ेगा—

"ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।
सन्त हृदय जस उपज न कामा॥"

'ज़मीन को क्यों दोष दूँ। मेरी खेती पर चिड़ियों की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोये हुए बीज को ज़मीन में पड़ा नहीं देख सकतीं और मैं भी चुग लिए जाने के पूर्व सचेत नहीं होता। फिर पछतावे से क्या!

मैं अपनी छोटी-सी दुनिया में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभाः, शुकाः, सभी इतियों का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज़ की वर्षा में जल-प्लावन हो गया। सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आ गया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका-चिन्ता का सामना करना पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर प्रताप से बचा पाया था, जलसमाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नहीं करते। यद्यपि मेरे नापित देव धूर्त्त तो नहीं हैं तथापि नापित को शास्त्रों में धूर्त्त कहा है। "नराणां नापितो धूर्त्तः।" इस प्रकार मेरा एक धूर्त्त से पीछा छुटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं उन पर कृपा करने से मुझे सङ्कोच होता है। अब मैं स्वयंसेवक (स्वयं सेवा करने वाला) बन गया हूँ और देश के हित में टमाटर और

पालक के विटेमिन-बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो चार विन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूँ। शायद सर कटाने की कभी नौबत आये तो इतना संकोच नहीं होगा। सर के बजाय बाल तो दो चार महीने में और नाखून दो एक सप्ताह मे कटवा ही लेता हूँ। फिर भी लोग कहते हैं बलिदान का समय नहीं रहा !

मैं अपने मकान तक पहुँचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ वह उमर भर नहीं हुआ था। मैंने अपने जीवन मे इस बात की कोशिश की थी कि दूसरों को धोखा न दूँ; इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत मुझे इक्के ताँगे वालों से रोज गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वह कह उठते हैं। 'बेईमान दिल्ली-दरवाजे की कह कर गाँव के दगड़े में खींच लाया है।' मै भी उनकी गालियों का, विवाह की गालियों के समान, आदर करता हूँ और चुगी के विधायको का स्मरण कर लेता हूँ कि—'कबहुँक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान ?" गाँव की सड़के भी इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकतीं। बन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध में तुलसी-दास ने कहा है—"कठिन भूमि कोमल पद गामी।" मेरे सम्बन्ध में शायद उन्हें कहना पड़ता—"कोमल भूमि कठिन पद गामी।" पवित्र ब्रजरज तथा खाके बतन स पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते है जैसे किसी साहब के ड्राइंग रूम के कुशन मे शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि-धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ, तो दूसरो की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के लोग वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य द्वारा अवश्य विरोध करते है।

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर-मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओं के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियाँ मिलती हैं। मेरी पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान-देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वामि-भक्त पशुओं के नाम भी याद हो गये हैं। एक का नाम टाइगर और दूसरे का कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान में जान आती है। हमारे घरों में ही बिजली का प्रकाश है; किन्तु रास्ते में पूर्ण अंधकार का साम्राज्य रहता है। और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है—"असूर्या नामते लोका अन्धेन तमसावृता।" मालूम नहीं उसके लिए कौन से पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सबेरा होता है और उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही संतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ। और बागीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

"बेकार मुबाश किया कर,
यदि कुछ न हो तो जूतियाँ सिया कर।"

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानों में अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूँ।

'कृषी निरावहिं चतुर किसाना'। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने मन की गाँठ के आधार पर बाबा तुलसीदास को किसनई का पेशेवाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा संतोष हो

जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त-शिरोमणि की समानता हो जाय।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सकल साधन-हीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो-चार नौकर चाकर हैं (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले हैं)—कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

२१—हिमालय की झलक

[श्री० सियारामशरण गुप्त]

लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी-सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इन्टर क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। यह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी। ताँगे से उतरते ही कुली ने बताया कि इन्टर में बैठिएगा, तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी। तीसरे दरजे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम तक जाता है। रेलवालों को मुझे धन्यवाद देना पड़ा। किसी उद्देश्य से क्यों न यह प्रबन्ध किया गया हो, उन्होंने मेरे कुछ पैसे बचा दिये। तीसरे दरजे में बैठने का ही निश्चय मुझे करना पड़ा। योग्यता की पहली परीक्षा में एक अपरिचित सज्जन की कृपा से निश्चिन्तता मिल गई। टिकट की खिड़की पर वहाँ किसी कँगलों की-सी भीड़ को टिकट-दान किया जा रहा था। वहाँ से मेरे लिए टिकट लाकर उन्होंने मुझे घायल हो जाने से बचा लिया।

हमारा डिब्बा गाड़ी के अन्त में था। लोग अग्रगामी होना पसन्द करते हैं। इसलिए अधिक भीड़ से अनायास ही हम लोग बच गये। किसी तरह बिस्तरा लगा लेने योग्य जगह वहाँ मिल गई। जब मिल गई, तब वह अपनी ही अपनी है। सबके सब हमारे देशवासी इतने भले हैं कि किसी को उसके चाहे जैसे अधिकार से वंचित करने का पाप वे नहीं लेते।

आकाश बादलों से घिरा था। रात अँधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आस-पास और पूरे डिब्बे में पतिंगों की भरमार थी। इन बिना टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण करने का अधिकार उनका था। खेद और दुःख इतना ही कि हम सभी यात्रियों को उन्होंने लैम्प का ही भाई-बन्द समझ रक्खा था। ढेर के ढेर आ आकर ऊपर गिरते थे। हम लोग किसी तरह उन्हें विश्वास न दिला सके कि हमारे भीतर या बाहर कहीं एक कण चिनगारी नहीं, तुम धोखा खा रहे हो।

पीलीभीत के आस पास कहीं सबेरा हुआ। इस नाम के साथ किसी अभूत स्वर्णाभा की कल्पना थी। वह पूरी नहीं हुई। मैदान अधिक दिखाई पड़ा, पेड़-पौधे कम। एक जगह सड़क पर देखा कि एक आदमी दुबले-पतले और हड्डी-निकले टट्टू पर सवार है। उसके पीछे कुछ अन्तर पर अपने महावत को लिये एक हाथी सूँड़ हिलाता हुआ अपनी सहज चाल से चला आता है। बड़ी देर तक यह घटना भुलाये नहीं भूली।

उत्सुकता बढ़ती गई कि कहाँ पहले पहल गिरिराज के दर्शन होते हैं। सहयात्रियों को यह कुछ अजीब बात जान पड़ी।

अन्त में शिखर-श्रेणी ने दर्शन दिये, और मन ही मन मैंने गुनगुनाया—

शैलराज, तुमको प्रणाम है,
भूतल के पाप-ताप-हारी हर,
दर्शन तुम्हारा तुम्हारा पुण्यकारी कर,
पूर्ण मनःकाम है।

परन्तु नहीं। अभी मनःकाम पूरा हुआ कहाँ है ? अभी तो इतना ही देखा है कि पुञ्जीभूत श्यामघन धरती से ऊपर उठकर वहाँ आकाश में फैलना चाहते हैं।

एक नदी के निकट होकर रेलगाड़ी आगे बढ़ने लगी। नदी थी या नाला कोई नहीं बता सका। हिमालय का नाला भी क्या हमारे यहाँ के नालो जैसा दुबला-पतला होगा ? काले रंग की मोटी रेत का लम्बा-चौड़ा पाट और उसके बीच में धूप से चमचमाती हुई एक पतली रजत-जल धारा। मानो बहुत अधिक मार्जिन देकर छपी हुई कोई हृदयहारिणी कविता हो। नाम उसका मालूम नहीं हो सका, उसकी कल-मुखर ध्वनि कानों तक नहीं पहुँच सकी; फिर भी वह बिना परिचय के हृदय के एक कोने में अंकित हो गई है।

गाड़ी काठगोदाम आकर रुकी। यहीं नैनीताल के लिए मोटर लारी मिलेगी।

लारी स्टार्ट होकर चल पड़ी। जगह आगे की ओर ही मिल गई थी। गाड़ी की छत नीची थी। आस पास का दृश्य पूरा दिखाई न देता था। जब हम इस अतुल आकाश में डुबकी लेने जा रहे हैं, तब छत की यह बड़ी-सी पट्टी आँखों को बहुत क्लेश-कर प्रतीत होती है।

पक्की सड़क चक्कर खाती हुई ऊपर गई है। इधर-उधर चोटियाँ ही चोटियाँ, वृक्ष ही वृक्ष। हिमालय के वृक्ष बौने कम होते

हैं। अपनी भूमि की उँचाई के प्रसाद से वे वञ्चित नहीं है। जैसे उँचाई पर चढ़ते गये, दृश्य की सुन्दरता बढ़ने लगी। अब तक भूमि पर ही यात्रा करने का अवसर पाया था। आज हमारी गाड़ी मानों आकाश पर चढ़ रही हो!

आगे या ऊपर की ओर बढ़ते चले गये। कहीं बहुत निचाई पर कुछ घरों की बस्तियाँ दिखाई दीं। आदमी बहुत कम देखने में आये। स्त्रियाँ क्वचित् ही। खेत एकदम विचित्र थे। हाथ डेढ़ हाथ लम्बी—ऊपर से इतनी ही लम्बाई जान पड़ती थी—सीढ़ियाँ थीं। मालूम हुआ, यहाँ के खेत यही हैं। कोई बताता नहीं, तो उन सोपान-पंक्तियों को खेत कौन समझता?

अब तक निर्झर एक भी दिखाई नहीं पड़ा था। निर्झरों के द्वारा ही रसातल अपना स्नेह इस उँचाई के प्रति अर्पित करता है। यहाँ के लिए जैसे हम सब रसातल के ही पड़ोसी थे। इसीसे निर्झर देखकर तृप्त होने की इच्छा थी। एक जगह एक नदी-सी दिखाई दे गई। पर कदाचित् इन दिनों उसका कोई निर्जल-व्रत था। आगे किसी जगह दूर से एक क्षीण जलधारा देखकर बड़ा कौतूहल हुआ। पता नहीं, किस पुनीत सरिता का बाल्यकाल उसमें था। नाम-हीन, परिचय-हीन, इस धारा ने आगे चलकर किस विराट् गरिमा को धारण किया है, यह हममें से कोई नहीं बता सका। किसी बहुत बड़े लोक नायक को, किसी वन्दनीय कवि-मनीषी को, लौट कर हम उसके बाल्यकाल में देखें, चित्र में नहीं प्रत्यक्ष, तब जो पुलक हममें उठ खड़ा हो, वही इस जल धारा से मेरे मन में हुआ।

सहसा नीचे की ओर एक सड़क दिखाई दी। पूछा—"यह दूसरा रास्ता कहाँ को है?" बताया गया—"वही तो, जिस पर चले आ रहे हैं।" जान पड़ा, सड़क को दूनर करके जैसे किसी ने उसकी तह कर दी हो! यहाँ अब हम बहुत उँचाई पर आ गये हैं। नीचे

की ओर खड्ड पर खड्ड, और ऊपर हमारी गाड़ी सरपट दौड़ी जाती है। ड्राइवर जरा भी असावधान हुआ नहीं कि फिर क्या हो, कौन जाने। इन भयंकर गर्तों को देखकर चक्कर आता है। मैं ही नहीं, दूसरों को भी चक्कर आते हैं, यह जानकर सन्तोष की साँस लिये विना नहीं रहा गया! एक जगह निचाई देखकर क्षण भर के लिए आँखें झँप गईं। अपनी "मंजुघोष" कविता का एक अंश याद हो आया। देवलोक से शम्पा (विजली) अपने स्वामी मेघ के साथ हिमालय पर जहाँ आती है, वहाँ एक जगह की निचाई देखकर उसे भय होता है। मेरी वह कल्पना, कोरी कल्पना नहीं है, इस विचार से आनन्द का अनुभव हुआ।

इतनी ऊँचाई पर पहुँच गया हूँ कि नीचे के खड्डों में बादल दिखाई पड़ते हैं। आकाश हमारे नीचे है! दूर-दूर तक, जहाँ तक दृष्टि जाती है, ऐसा जान पड़ता है कि शान्त समुद्र हो। उस समुद्र में ही हम तैरे जा रहे हैं। इस समुद्र मे तरङ्गाघात नहीं हैं। शान्त, निश्चल, सुविस्तीर्ण। ऐसे समुद्र की पहले कल्पना नहीं की थी। पहाड़ हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इस स्वनिर्मित समुद्र में जैसे उसने डुबकी ली हो। अब फिर गिरिराज, और हमारी गाड़ी एक इमारत के पास पहुँच कर रुक गई। नैनीताल निकट ही है और उसी का यह चुंगीघर है। प्रकृति के विशाल क्रीड़ा क्षेत्र पर मनुष्य-कृत यह रचना रुचिकर नहीं जान पड़ी। अपने में डूबा डूबा मैं गुनगुना रहा था—

"(शम्पे, प्रिये शम्पे,) यही पावन नगाधिराज;
करके अचचल नयन आज
कर लो निमज्जित पवित्र पयोद्गम में,
दिव और भव के विचित्र इस सङ्गम में!"

इस सङ्गम में जैसे यह कहीं का कर्दम आ पड़ा हो। प्रत्येक यात्री को यहाँ एक एक रुपया कर चुकाना पड़ा।

आगे के मोटर स्टैन्ड का पहला ही दृश्य भीषण था। कुलियों के एक झुण्ड ने आकर मोटर और मोटर-यात्रियों पर हल्ला बोल दिया। जी एकदम घबरा उठा। कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिए? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं। 'बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे. हमें ले चलिए, हमें!"— उनकी इस कातर प्रार्थना में न जाने क्या बात थी कि जी काँप उठा। उसमें कातरता थी, उसमें धिक्कार था, उसमें भर्त्सना थी। क्या नहीं था उसमें?

पहला जो कुली सामने आ गया उसीसे हाँमी भर देनी पड़ी। सबके योग्य सामान मेरे पास न था। कुली सामान सँभाल ही रहा था, इतने में उसका दूसरा भाई आ पहुँचा। पहला चाहता था कि हमीं सब सामान ले जायँगे, दूसरा कहता था—हम। अन्त में एक का सामान दो में बाँट देना पड़ा। दूसरे ने कोई तर्क सुनना पसन्द नहीं किया। उनमें एक क्षत्री था, दूसरा ठाकुर। दोनों लड़-झगड़ कर रवाना हुए।

यह नैनीताल है, लगभग एक मील लम्बी झील। नीले रंग का शान्त सरोवर। इस समय तरङ्गायित नहीं है। शान्त है, सुस्मित है। अन्य सरोवरों की भाँति यहाँ स्नान और जलक्रीड़ा का उत्सव नहीं दिखाई दिया। दर्शन से ही यह शरीर और मन को शीतलता पहुँचाता है। जल विहार के लिए कुछ नौकाएँ तट पर बँधी हैं। झील के किनारे किनारे चलकर यह पतली सड़क ऊपर चढ़ गई है, जिसे एक ओर के इस ऊँचे शैल को काट कर तैयार किया गया है। ऊपर सघन वृक्षराजि है। बड़ी बड़ी शिलाएँ अपना अर्द्धभाग कटवा कर अपनी जगह स्थिर हैं। भूकम्प के कठोर हाथों से कोई अदृश्य और अज्ञात इनमें से किसी को मचमचा दे, तो क्या हो? यहाँ इनके नीचे हम लोग जो चल रहे हैं, उनका क्या हो! प्रश्न ऐसा है कि इसे टाल ही देना चाहिए।

शीत यहाँ काफी है। गरमी के कपड़ों से काम न चलेगा। इसी समय अनेक महिलाएँ झुण्ड की झुण्ड दिखाई दीं। प्राचीनाएँ भी, और आधुनिकाएँ भी। रंग-बिरंगे बारीक वस्त्र धारण किये हुए। देखकर तसल्ली होती है कि आक्रमण कर देने के लिए निमोनिया इसी समय यहाँ सन्नद्ध नहीं खड़ा है। देवियाँ देवताओं में साहस का पौरुष का संचार करती हैं, इसका एक नया प्रमाण मिला।

अपने डेरे पर आ पहुँचा हूँ। काफी सुन्दर स्थान है। स्वागत करने वालों से एक ही शिकायत। वे अतिथि के रूप में मुझे लेना चाहते हैं। मैं चाहता हूँ, मैं उन्हीं में का एक हो जाऊँ। बाहरी जन होकर सम्मान और आदर विशेष मिलता है, परन्तु घाटे में भी कम नहीं रहना पड़ता।

समुद्र-तल से लगभग सात हजार फीट की ऊँचाई यह है। इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य के इतने निकट पहुँच गया हूँ। साधारण न्याय से सूर्य का उत्ताप यहाँ अधिक होना चाहिए। पर बड़ों के सम्बन्ध में साधारण न्याय से विचार करना कदाचित् ठीक नहीं होता।

जहाँ से चला था, वहाँ इन दिनों जून का महीना है। और यहाँ इस जगह नवम्बर, दिसम्बर। बारह घंटे की यात्रा में ही महीनों की यह दूरी पार कर ली है। आग की भट्टी में तपते हुए लोहे को पानी में डुबोकर पक्का किया जाता है। मेरा शरीर लोहे का नहीं है। इसलिए कह नहीं सकता, इस परिवर्तन का उस पर क्या असर होगा।

सायंकाल मित्र महोदय के साथ भ्रमण के लिए निकला। यहाँ न इक्के ताँगों की खड़खड़ है और न मोटरों का कटु-कोलाहल। सवारी यहाँ घोड़े की है। आदमी भी इस काम को करता है। आदमी की इस सवारी का नाम है डाँडी। पौराणिक भाषा

में इसे नहुष-यान कह सकते हैं। पालकी की तरह बारह जन इसे कन्धों पर ढोते हैं। सड़कें ऊँची-नीची। मनुष्य के काबू में आकर भी अपनी गिरि-जातीयता का परित्याग इन्होंने नहीं किया है।

नगर के मूल-निवासी कितने हैं, कह नहीं सकता। दत्तक-निवासी ही अधिक दिखाई दिये। न जाने कहाँ-कहाँ से आकर इकट्ठे हुए हैं।

झील के किनारे इस समय विशेष चहल-पहल रहती है। इसीके एक ओर यहाँ की कुलीन, अर्थात् बड़े लोगों की दूकानें हैं। पर वहाँ इस समय मौसम की तरह ही बाजार भी ठंढा था।

आसन्न रात्रि-वेला में बिजली का प्रकाश जगमगा उठा है। इधर-उधर ऊची चोटयो पर यत्र तत्र छिटकी हुई कोठियों के बिजली के प्रदीप एक विचित्र छटा धारण किये हैं। इन ऊँची चोटियों के मिष, जान पड़ता है नक्षत्र-खचित आकाश का कोई दुपट्टा नीचे की ओर छहर पड़ा हो।

और इन चोटियों पर यह धूम-पुंज ? कहाँ से ये बादल इनमें से निकल पड़े! शीतल आग का अनुभव बरफ में होता है, परन्तु यह तो शीतल धुआँ है। इन शिखरों पर कभी बरफ की आग फैलेगी, इसी के पूर्वरूप में यह धुआँ गुँगा उठा है। कितना सुन्दर, कितना मनोमोहक, कितना लुभावना! गिरिराज की यज्ञ-वेदियों में जैसे यह आहुति-दान का चिन्ह हो।

जीवन में दो ही बार हिमालय के दर्शन का सौभाग्य मिला है। एक बार तब, जब कि यहाँ से सैकड़ों मील दूर अपने कमरे में बैठकर "मंजुघोष" कविता लिख रहा था। और दूसरी बार यहाँ इस समय नैनीताल में। जानकार लोग यही कहेंगे कि मैंने एक बार भी दर्शन नहीं किया। उनसे मुझे समझौता करना पड़ेगा। इस बार भले ही मैंने गिरिराज के दर्शन न किये हों, किन्तु उस

बार के सम्बन्ध में प्रश्न तक नहीं उठ सकता। उस कल्पना की वास्तविकता में मैं असंदिग्ध हूँ।

इस बार दर्शन हुए हों या न हुए हो, देवतात्मा का बहुत बड़ा प्रसाद लेकर यहाँ से उतर रहा हूँ। मेरे मन में घर के लिए उत्सुक-वेदना जाग उठी है! जान पड़ता है, स्वर्ग-विहार करने वाली आत्माएँ पुण्य के क्षीण होने पर ही अनिच्छा के साथ पृथ्वी पर नहीं लौटतीं। पृथ्वी पर भी कुछ ऐसी गरिमा है, कुछ ऐसी स्नेह-माधुरी है, कुछ ऐसा आकर्षण है, जिसके कारण स्वेच्छा से ही उन्हें इसकी गोद में फिर फिर आना पड़ता है। इस आकर्षण की गुरुता से और तीव्रता से और शक्तिमत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

सोच रहा हूँ, इस समय वहाँ के उस सुदूर प्रान्त भाग में भी आकाश मेघों से भरा होगा। यहाँ की तरह मेघ नीचे उतरकर हमारे शरीरों को वहाँ नहीं छूते। परन्तु इस कारण दूर होने पर भी वहाँ वे हमारे अधिक निकट हैं, अधिकतर मनोमोहक हैं, अधिकतर वाञ्छनीय हैं। वहाँ घन-गम्भीर घोष होता है, वहाँ क्षण-क्षण पर बिजली कौंधती है, वहाँ रिम-झिम बूँदें पड़ती हैं और फिर थोड़ी देर में अखण्ड और प्रबल धारा-पात से छोटे-छोटे नाले तक प्रखर प्रवाहिणी का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ की तरह वृष्टि वहाँ अरुचि नहीं उत्पन्न करती, वितृष्णा से मन को नहीं भर देती। वहाँ इसके लिए भीतर और बाहर एक-सी जलन है, एक सी चाह है। इसीसे मेघदूत का विरही यक्ष वहीं के राम-गिरि पर अपने दिन काटने के लिए उतरता है। वहाँ के मेघागम में 'वर्ष-भोग्य" शाप की शान्ति है। प्रिय विरह-दूत का पुनर्मिलन है। इसीसे इस समय वहाँ घर-घर आनन्द छाया हुआ है, घर-घर उत्सव की बाँसुरी वहाँ मेघ-मुरज के ताल पर बज उठी है। वहाँ के आम, वहाँ के जामुन, वहाँ के नीम नई वायु में चञ्चल होकर दोलायित हैं। स्त्रियों के मधुर स्वर में सावन का गीत है,

पुरुषों की ध्वनि में मलार की तान है। बेतवा अपने दोनों ही कूलों पर आज के नवीन आनन्द में मुखरित हो उठी है। सीधे और टेढ़े कितने ही मार्गों के बीच में होकर अनेक आवर्त्त-विवर्त्तों में कहीं तो फेनोच्छ्वास के द्वारा वह खिल खिलाती जाती है और कहीं पर जम्बु-वृक्षों के श्यामायमान वनों के मध्य कठिन प्रस्तर शिलाओं से टकराकर अट्टहास करती हुई दौड़ती है। उछलती हुई कूदती हुई, किस पुलक से भरकर आज उसने अपने किस प्रिय के लिए यह अभिसार किया है! उसका यह उत्कट उत्साह आज वहाँ के गाँव-गाँव में वहाँ के घर घर में दूर दूर तक फैल गया है। इतनी दूरी पार करके आज उसने अपनी स्मृति यहाँ इस मेरे मन तक पहुँचा दी है। हिमालय की इस यात्रा ने वहाँ की यह आनन्दानुभूति जिस उत्कण्ठा के साथ हृदय में अंकित कर दी है, उसे मैं कभी न भूलूँगा। मेरे लिए वह कभी पुरानी न पड़ेगी।

असमय में यह यात्रा की थी, इसलिए हिमालय के श्री-मन्दिर की झलक तो दूर से दिखाई दे गई है, पर उनका रूप-दर्शन मुझे नहीं हुआ। वहाँ के लीला-निकेतन ने अपने पट मेरे लिए नहीं खोले। वहाँ की हिम-गंगा, वहाँ का कुसुम हास, वहाँ की रंग-बिरंगी परिधान-सज्जा, वहाँ के क्षण क्षण पर परिवर्तित प्रकृति-चित्र, वहाँ के निर्झर-प्रपात, वहाँ की सरिताओं के उद्दाम नृत्य, वहाँ के पलायित प्रवाहों के ग्रीवा-भङ्ग मेरे देखने में नहीं आये। खिन्न मन से मैं नीचे उतर रहा हूँ।

पाँच सौ फीट नीचे उतर कर इस झील के किनारे खड़ा हो गया हूँ। पीछे की ओर देख लेने के लिए एक बार गर्दन मोड़कर दृष्टि डाली। इस एक क्षण में, विदा के इस एक क्षण में, यह मेरी दृष्टि कहाँ से कहाँ जा पहुँची है! चारों ओर नीला कुहरा छाया हुआ है। नीलाकाश की नीलम-रज ही यह जैसे यहाँ फैली हो। उसके सौन्दर्य की अनुभूति होती है, वाणी उसे छू नहीं सकती। इस नीलपुंज में नैनीताल की उच्च अट्टालिकाएँ अदृश्य हैं। वहाँ

कुछ दिखाई नहीं देता। दिखाई नहीं देता, फिर भी यह देख क्या रहा हूँ, अनुभव कर क्या रहा हूँ? किसी एक अट्टालिका की ही एक कोर अस्पष्ट रूप से वहाँ जान पड़ती है। क्या वहीं, उसी जगह कहीं वह 'स्रस्तगंगादुकूला" अलकापुरी है? वहाँ तक चर्म-चक्षुओं की पहुँच नहीं होती, फिर भी वहाँ का कोई अनुपम कोई अलौकिक, कोई अवर्णनीय चित्रपट एक साथ मेरे आगे खुल पड़ा है। जान पड़ता है, वहाँ वे वधुएँ हाथ मे लीला-कमल लिये हुए हैं; अलकों में उनके बालकुन्द गुँथे हैं, मुख-मण्डल लोध्रपुष्प के पराग से रंजित हैं; कर्णों मे शिरीष-पुष्प, चूड़ापाश मे नव-कुरवक, और सीमन्त में उनके कदम्ब-कुसुम हैं। "विद्युद्वन्तं ललित वनिताः" आदि में कवि के द्वारा उल्लिखित उन अलौकिक वनिताओं की एक झाँकी इस एक क्षण में अचानक मुझे उपलब्ध हो गई है। विदा के इस एक क्षण में न जानें किस अतुलनीय पुलक-भार से मैं समाच्छन्न हो उठा हूँ। न जानें वह कैसा है, न जाने वह कितना है, न जाने वह कहाँ का है, उसके सम्बन्ध में मैं कुछ कह नहीं सकता।

२२—पुरातत्त्व का महत्त्व

[श्री राहुल सांकृत्यायन]

हिन्दी में पुरातत्त्व-साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। भारत के सच्चे इतिहास के निर्माण में "पुरातत्त्व" की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और खुदाई आदि के द्वारा अभी तक जो कुछ किया गया है, वह दाल में नमक के बराबर है। और जब हम यूरोप के सभ्य देशों के कार्य से तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशी की नागरी प्रचारिणी-सभा ने हिन्दी की खोज की रिपोर्टें तथा 'प्राचीन मुद्रा' छाप कर, और उसकी पत्रिका के योग्य

सम्पादक श्रद्धेय ओझाजी* ने भी हिन्दी में इस ओर बहुत कार्य किया है। ओझाजी हिन्दी में इस विषय के युगप्रवर्तक होने से चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहास की सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व-सामग्री है, और उस सामग्री से भारत की कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवों के पुराने डीहों पर फेंके मिट्टी के बर्तनों के चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहास की कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बाते बतलाते हैं; लेकिन उन्हें समझने के लिए हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहिए।

१—सर्वसाधारण के जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषक को जानना चाहिए, किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यान में रखे, और अपने आस-पास की सामग्रियों के रक्षण और परीक्षण का ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है।

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीजों पर के लेखों को जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें प्राचीन लिपियों से यदि मिलावें, तो उससे काल का ज्ञान हो सकता है। यह ख्याल रखें कि पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ हैं और न वह भारत में सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिए आपके गाँव के डीह या महादेव स्थान पर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियों के टुकड़ों में भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आस-पास की पहाड़ियों के पत्थरों से भिन्न यदि किसी दूसरे रंग के पत्थर की मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्त्वपूर्ण सूचना देने वाली हो सकती है। मूर्तियों में अक्सर आसन (पीठिका) के नीचे या प्रभामण्डल (सिर के चारों ओर के घेरे) या पीठ पर लेख खुदे होते हैं।

* महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

(३) ईंटों की लम्बाई पर अलग लेख है। जितनी ही असाधारण लम्बाई की ईंटे मिले, उतनी ही उन्हें उस स्थान की प्राचीनता को बतलानेवाली समझना चाहिए। भरसक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेने की कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानी काल की होती हैं। विचित्र आकार-प्रकार के खपड़े, कुएँ बाँधने की चन्द्राकार पाटियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती हैं।

(४) मकान की नींव, कुआँ या तालाब खोदने में यदि कोई चीज़ मिले, तो उसकी गहराई को नाप कर चीज के साथ नोट कर लीजिए। यह गहराई काल-प्रमाण की एक बहुत ही उपयोगी कड़ी है। इसी तरह जो चीज़ जिस गाँव के जिस स्थान पर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थानहीना न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" की उक्ति इस पर भी घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवों में पीपल के नीचे या किसी टूटे फूटे देव-स्थान में पत्थर के लम्बे चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-बारह हज़ार वर्ष पूर्व के, हमारे पूर्वजों के, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थर के तथा नोकीले और तेज़ धारवाले हों, तो निश्चय ही समझिये कि वे वही अस्त्र हैं जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदने में धरती के बहुत नीचे कभी कभी मनुष्य की खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है कि वह कई हजार वर्षों की पुरानी किसी लुप्त जाति के मनुष्य की हों। इसलिए उसकी छान-बीन करनी चाहिए और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम होती हों, तो उनकी रक्षा करनी चाहिए या किसी विशेषज्ञ से दिखाना चाहिए। बहुत नीचे मिले मिट्टी के बर्तनों के बारे में भी

यही समझना चाहिए। ताँबे या पीतल की तलवार या छूरा, यदि कहीं मिल जाय तो उसे धातु के भाव बेंच न डालना चाहिए। हो सकता है, वह ५-६ हज़ार वर्षों की पुरानी चीज़ हो; और कोई संग्रहालय उसे धातु से कई गुने दाम पर खरीद ले।

(७) पुराणस्थान—(क) मिट्टी से भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आस-पास पुराने देवस्थानों या पीपल के वृक्षों के नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटों की दीवारें आदि निकल आती हो, (घ) जहाँ बरसात में मिट्टी के घुल जाने पर ताँबे आदि के पैसे तथा दूसरी चीज़ें मिलती हों, (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं; और पानेवाले को, उनका कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्व के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगह से भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हज़ार वर्ष पूर्व से जहाँ बस्ती फिर नहीं बसी, वहाँ की ज़मीन बहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गाँव में, साधारण लोगों में, यह भ्रम फैला हुआ है कि सरकार जहाँ कहीं खुदाई करती है, वह किसी खज़ाने के लिए। उन्हें समझना चाहिए कि पुरातत्त्व की खुदाई में सरकार ने जितना खर्च किया है, यदि खुदाई में निकले हुए सोने-चाँदी के दाम से मुकाबिला किया जाय तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थर की जो कोई चीज़ मिलती है, उसे न गलाया जाता है न बेंचा जाता है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयों में, इतिहास के विद्वानों और प्रेमियों के देखने और जानने के लिए रख दी जाती है। यदि गाँव में इस तरह के सिक्के आदि किसी को मिलें तो उसे वह गला कर या तोड़-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है कि उससे उसकी अपनी जाति का

कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुत से भूले वंशों के परिचय और गौरव स्थापन करने में इन चीज़ों ने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीज़ को गलाने या तोड़नेवाला अपने पूर्वपुरुषों की कीर्ति और इतिहास को अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो।

२—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्व के विषय में पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिए। कोई बीस महीने हुए, काश्मीर-राज्य के नियमित स्थान में १२-१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरों में, भोजपत्र पर लिखे बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का एक ढेर मिल गया। भारत के कितने ही विद्वान् तो उसके महत्व को उतना नहीं समझे, किन्तु उसके बारे में सचित्र सुन्दर विवरण फ्रान्स के आचार्य सिल्वेन्लेवी ने प्रकाशित कराया है। उसके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठ को, उन्होने उसमें, छापा भी है। वह और उनके सहकारी डाक्टर फुसे आदि हस्तलिखित ग्रन्थों के बारे में इतने उत्सुक हुए कि उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्य के अधिकारियों के पास पत्र भी भेजे। वे व्यग्र रहे कि कहीं असावधानी से वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय। जब मैं १९३२ ई० के नवम्बर में पेरिस मे था हस्तलेखों का निरूपण किया जा रहा था! यदि ग्रन्थों का प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपण में ही लग जाते हैं, तो कब उन्हें विद्वानों के सामने आने का मौका मिलेगा! आचार्य लेवी ने कहा था कि पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारत मे मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारे में भारत में इस तरह का आलस्य है, यह भारत के लिए लज्जा की बात है।

भारतीय पुरातत्त्व के साहित्य के बारे में यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालेण्ड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियों के परिश्रम से निकलने वाली वार्षिक पुस्तक से जान सकते हैं।

३—पुरातत्त्वोत्खनन के लिए एक सेवक-दल की आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खनन का सारा भार हम सरकार पर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशों में, ग़ैर सरकारी लोगो ने, इस विषय में बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रता के कारण गवर्नमेण्ट ने पुरातत्त्व-विभाग के खर्च को बहुत ही कम कर दिया है। भारत-सरकार के शिक्षा-सदस्य के भाषण से यह भी मालूम हुआ है कि सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओं को भारत में पुरातत्त्व सम्बन्धी उत्खनन के लिए अनुमति दे देगी। ऐसा करने से निश्चय ही भारत के इतिहास की बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री को—जो आगे खुदाई में निकलेगी—वह संस्थाएँ भारत से बाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओं के प्रामाणिक होने पर, सामग्रियो का भारत से बाहर जाना—जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है; किन्तु यह भारतीयों के लिए शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि हम चीज़ों के बाहर चले जाने के डर से न दूसरों को खोदने दें और न आप ही इस विषय में कुछ करें। अस्तु। धनियों को चाहिये कि पर्याप्त धन देकर किसी विश्व-विद्यालय या संग्रहालय द्वारा खुदाई करावे। हिन्दी भाषा-भाषी राजाओं, ज़मींदारो और धनाढ्यों के विषय में यह आमतौर से शिकायत है कि वह विज्ञान, कला तथा दूसरे संस्कृति-सम्बन्धी कामों से उपेक्षा करते हैं। सचमुच यदि वह यह भी नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्त्व बिलकुल निरर्थक है। वस्तुतः इस

श्रेणी का भविष्य बहुत कुछ इस प्रकार के कामों द्वारा। जनता की सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीब है। बहुत से आदमी होंगे, जो पुरातत्त्व के सम्बन्ध में कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकार से उत्खनन में सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्त में, ऐसे उत्साही लोगों का एक पुरातत्त्व-सेवा-दल क़ायम करने की। दल में कालेजों के छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषय में उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवा-दल के सदस्य साल में कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओं के नेतृत्व में अपने हाथों खनन का काम करे। निकली चीजों को प्रान्त के संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थान में रक्खा जाय। कैम्प का जीवन बिताते हुए अपने पास से खर्च का काम करनेवाले लोग आसानी से मिल सकेंगे। वस्तुओं की सुरक्षा और नेता के अभिज्ञ होने का विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काम में बाधक नहीं होगी और जहाँ तक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

काल-निर्णय में ईंटें और गहराई

इतिहास का विषय भूत-काल है; इसलिए उसे हम नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओं के लिए प्रत्यक्ष बहुत ही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओं के लिए जबर्दस्त प्रमाण उस समय की वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्यक्षदर्शी और सत्य-वादी साक्षी हैं, यदि उनका उस काल से सच्चा सम्बन्ध मालूम हो जाय। पोथी-पत्रों में तो मनुष्य भूल कर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाई में घटा-बढ़ा सकता है; किन्तु रमपुरवा (चम्पारन) के स्तम्भ लेख में एक भी अक्षर का, अशोक के बाद मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथ में ई० पू० प्रथम या द्वितीय

शताब्दी में जिस बौद्ध-सम्प्रदाय की प्रधानता थी वहाँ उस समय की लिपि में उसके नाम के साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार पाँच सौ वर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में) दूसरा संप्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेख में, नाम-वाला भाग छिलवा कर अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथों के अक्षर एक दूसरे से पृथक् होते हैं; और यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरों में भारी परिवर्तन हो गया था। इसलिए यह जाल साफ मालूम हो जाता है; और वह "आचार्याणां सर्वास्ति वादिन्नं परिग्रहे' वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथ का धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दी से पूर्व किसी दूसरे सम्प्रदाय के हाथ में था; और ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में सर्वास्तिवाद के हाथ में चला गया। इस तरह इस प्रमाण की मजबूती को आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दी के चीनी भिक्षु युन्-च्वेङ अपने समय में वहाँ साम्मितीय निकाय की प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङ का ग्रन्थ १२ शताब्दियों तक भारत से दूर पड़ा रहा, इसलिए जान-बूझ कर मिलावट कम होने से, अपने समय के लिए उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये, युन्-च्वेङ अपने ग्रन्थ में लिख दें कि सारनाथ का धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोक के समय से आज तक साम्मितियों के हाथ में है तो उक्तलेख के सामने इस बात की प्रामाणिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इस तरह सामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थों से बहुत ही अधिक प्रामाणिक है। हाँ, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी सम-सामयिकता को सिद्ध करना होगा। सम सामयिकता सिद्ध करने के लिए निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं— (१) स्वयं लेख में दिया संवत् और नाम, (२) लिपि का आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तु के आस-पास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही; लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखने का रिवाज गुप्तों के ही समय से मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणों, मौर्यों के लेखों में तो राजा के अभिषेक का संवत् दिया रहता है; उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुत से लेखों में तो काल भी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में, अक्षरों को देखकर उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें दो एक शताब्दियों के अन्तर होने की सम्भावना है; किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाण में मिलती है और मनुष्य-जीवन के सभी अङ्गों पर प्रकाश डालती है वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्री की सम-सामयिकता को सिद्ध करने के लिए तीसरे और चौथे प्रमाणों की आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक सामग्रियों में प्रत्यक्ष-दर्शी लेख का, अपनी ज़बान खोल कर सन् संवत् के साथ घटनाओं का वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अङ्क या आकार से अपने काल-मात्र को बतलाता है, तब भी वह अपने साथ के बर्तन, दीवार, ज़ेवर, मूर्ति आदि के बारे में इतनी गवाही दे ही जाता है कि इतने समय तक हम सब साथ रहे हैं। उस समय की सभ्यता आदि सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषा से मालूम करनी होगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि भिन्न काल में बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हों; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि संग्रहालय (म्यूज़ियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करने का कोई मतलब हो। लेखों के साथ कुछ और चीज़ें भी सभी जगह मिला करती हैं; और यह भी देखा गया है कि काल के अनुसार इनके आकार प्रकार मे भेद होना रहता है। इसीलिए इन्हें भी काल-निर्णय में प्रमाण माना जाता है।

देहात में भी लोग कहा करते हैं कि, 'धरती माता प्रति वर्ष जी-भर मोटी होती जाती है!" यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधन के साथ—'सभी जगह नहीं, और मोटाई का ऐसा नियत

मान भी नहीं।' भारत में मोहनजोदड़ो वह स्थान है, जहाँ आज से चार-पाँच हज़ार वर्ष की पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ आप इन सब चीज़ों को वर्तमान तल से भी ऊपर टीलों पर पाते हैं। हड़प्पा में भी करीब-क़रीब वही बात है। हाँ, इस तरह के अपवादों के साथ पृथ्वी के मोटे होने का नियम उत्तर भारत में लागू है। पृथ्वी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिए कुछ जगहों की खुदाई में मिले भिन्न-भिन्न तलों की सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फीट)	स्थान
ई० पू ८ वीं शताब्दी	२१, २०	*भीटा (इलाहाबाद)
" चौथी-पाँचवीं "	१७	"
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय शतक)	१६	
"	१५	पटना
"	१३	रमपुरवा (चम्पारन)
"	गुप्त + ६, ६½	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
" (ई० चतुर्थ-पृष्ठ श०)	१०—६	कसया (गोरखपुर)
"	१०	"

* भीटा का पुराना नाम सहजाती था। वहाँ की खुदाई में एक मुहर भी मिली है, जिसमें "सहजतिये निगमश" (सहजाति के वणिक-संघ का) लिखा है—दे० "बुद्धचर्य्या" पृष्ठ ५५९, ५६१।

कुषाण-काल	१०	वसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
”	९	भीटा (इलाहाबाद)
”	८	”
”	७	पटना

गहराई की भाँति ईंटें भी काल निर्णय में बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती है। यद्यपि यह नियम सामान्यत: सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-काल की भी ईंटे कभी-कभी मौर्य-काल की सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं है। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ी की किफायत करने लगे; और इसीलिए ईंधन की कमी के लिए ईंटों की मोटाई आदि को कम करने लगे।) मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँ की ईंटें तो आज-कल की अंग्रेज़ी ईंटों जैसी लम्बी किन्तु कम मोटी हैं। नीचे की सूची से भिन्न-भिन्न काल की ईंटों का कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई० पू० चतुर्थ श०	१६ × १०½ × ३	पिपरहवा (बस्ती)
”	१५ × १० × ३	”
मौर्य-काल		
(ई पू० तृतीय श०)	२० × १४½ × ३¼	भीटी (बहराइच)
”	१९½ × १२½ × ३½	सारनाथ (बनारस)
”	१९ × १० × ३	कसया (गोरखपुर)
”	१८ × १० × २¾	”
कुषाणों से पूर्व	१७½ × १०¾ × २¼	भीटा (इलाहाबाद)
कुषाणों के पूर्व	१४ × १०¼ × २¼	सहेटमहेट (गोंडा)
”	१४ × १० × २	”
”	१४ × ९ × २	”

कुषाण	१५ × १८ १/३ × २ ३/४	सारनाथ (बनारस)
गुप्त	१४ × ८ × २ १/२	सहेटमहेट (गोंडा)
,,	१२ × ६ × २	,,
ईस्वी छठीं-सातवीं सदी	१२ १/२ × ८ १/२ × २	,,
ई० सातवीं आठवीं सदी	१२ × ६ × २	,,
ई० दशवीं ग्यारहवीं सदी	१२ × ६ × २	,,
,,	६ १/२ × ६ १/२ × २	,,
,,	७ × ५ × २	,,

,, ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियाँ।

लेखकों का परिचय

लल्लूलाल

इनका जन्म संवत् १८२० के लगभग बलका-बस्ती, आगरा में हुआ। ये गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे। इनके पिता की वृत्ति कर्मकाण्ड और पौरोहित्य थी। प्रारम्भ में इनको संस्कृत और फारसी की शिक्षा दी गई। जब ये बीस वर्ष के हुए, तो इनके पिता का देहान्त हो गया। अब जीवन निर्वाह का भार इनके ऊपर आ पड़ा। पैतृक वृत्ति मे इनको अरुचि थी। अतएव जीविकावश घूमते-फिरते संवत् १८४३ में मुर्शिदाबाद (बंगाल) जा पहुँचे। वहाँ गोस्वामी गोपालदास से इनका परिचय हो गया और उनके द्वारा तत्कालीन नवाब मुबारकुद्दौला का आश्रय मिल गया। वहाँ आप सात वर्ष तक बने रहे। तदनन्तर जब गोस्वामी गोपालदास का देहान्त हो गया, तो आप नवाब का आश्रय त्यागकर कलकत्ता चले आये। वहाँ पहुँचने पर आपको राजा रामकृष्ण का अवलम्ब प्राप्त हो गया। कालान्तर मे पादरी बुनर, डॉक्टर रसल और डॉक्टर गिलकिरिस्ट से आपका परिचय हो गया। डॉक्टर गिलकिरिस्ट महोदय उस समय ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के उच्चाधिकारी थे। उनके द्वारा उन्नति करने में आपको बडी सहायता मिली। यहीं सवत् १८६१ वि० में, एक वर्ष की अवधि में ही आपने सिंहासनबत्तीसी, वैताल-पचीसी, संस्कृत शकुन्तला तथा सस्कृत माधवानल का अनुवाद कर डाला। इसी वर्ष आप फोर्ट-विलियम कालेज मे अध्यापक हो गये। कालेज में अध्यापन का कार्य करते हुए आपने एक प्रेस खोला, जिसका नाम 'संस्कृत प्रेस' था।

लल्लूलाल जी ने उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथ लिखे हैं। यथा—माधवविलास (नाटक), सभाविलास, प्रेमसागर (श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध का दोहा-चौपाइयों में अनुवाद) हितोपदेश का अनुवाद, लतायफ हिन्दी (सौ कहानियों का संग्रह) तथा विहारी सतसई की टीका—लालचन्द्रिका।

लल्लूलालजी राधावल्लभीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। आपके सम्बन्ध मे साहित्याचार्य्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास का कथन है कि यदि उस समय से आज तक विद्वान् लेखक हिन्दी की ऐसी सेवा करते, जैसी लल्लूलाल जी ने की, तो हिन्दी भाषा सारे भारत में चक्रवर्तिनी होती।

अम्बिकादत्त व्यास

जन्म—संवत् १६१५, निधन—सवत् १६५७। इनके पूर्वज राजपूताना के निवासी थे। पिता संस्कृत के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। संवत् १६३७ में आपने काशी से आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद आप कलकत्ता चले गये। वहाँ पहुँचकर आपने पर्य्याप्त सम्मान और कीर्ति अर्जित की। आप सस्कृत भाषा के विद्वान् और आशुकवि थे। काशी की एक विद्वन्मण्डली ने, जिसका नाम उस समय 'ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा' था, आपको रजत पदक के साथ 'घटिकाशतक' की उपाधि प्रदान की थी; क्योंकि आप प्रतिदिन सौ श्लोक बना लेते थे। गद्य और पद्य दोनों मे समान रूप से लेखन-प्रतिभा आपको प्राप्त थी। संस्कृत और हिन्दी में आपकी लिखी हुई पुस्तकों की संख्या ७८ है जिनमे से कुछ तो अप्रकाशित ही पड़ी रह गयीं। हिन्दी में आपने 'कंस-वध' नामक एक खण्ड-काव्य भी लिखा था। परन्तु हिन्दी-जगत् में जिस पुस्तक के कारण आपको विशेष ख्याति प्राप्त हुई, उसका नाम 'बिहारी विहार' है।

बालकृष्ण भट्ट

जन्म—रविवार आषाढ़ कृष्ण द्वितीया सवत् १६०१ वि० निधन—संवत् १६७१ वि०। बारह वर्ष की अवस्था तक आपने संस्कृत पढ़ी। उसी समय से आपके अभिभावक (पिता तथा चाचा) चाहते थे कि आप जीवन व्यापार मे लग जायँ; पर आपकी माता का मत था कि आप पढें। निदान आपने पढ़ना स्वीकार करके अँगरेजी से एट्रेंस पास किया। उस समय पुनः किसी जीविका में लग जाने का प्रश्न उठा। तब आप मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये। परन्तु अपने विचारों की दृढ़ता के कारण वहाँ आप अधिक काल तक रह न सके। इसके पश्चात् आप इलाहाबाद के

शिवराखन स्कूल में और पुन., कायस्थ-पाठशाला हाई-स्कूल में हेड पंडित हो गये। कालान्तर में जब कायस्थ-पाठशाला हाईस्कूल इण्टर-मीजिएट कालेज हो गया तो आप उसमें संस्कृत के प्रोफ़ेसर हो गये। इस पद पर रहकर आपने हिन्दी-साहित्य की विशेष सेवा की। आपने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की प्रेरणा पाकर, हिन्दी-प्रवर्द्धिनी सभा की ओर से 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिकपत्र निकाला और निरन्तर घाटा होने पर भी ३२ वर्ष तक आप उसे चलाते रहे। हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य के कार्यों की उन्नति में लगे रहना ही आपके जीवन का एकमात्र व्रत था। स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने आपके सम्बन्ध में लिखा है कि भट्टजी के जीवन की सारी कमाई 'हिन्दी प्रदीप' की फायलों में बन्द है। आपकी पुस्तकों मे 'सौ अजान—एक सुजान'', ''नूतन ब्रह्मचारी'', ''साहित्य-सुमन'' तथा ''शिक्षादान'' विशेष उल्लेखनीय हैं। आपके निबन्धों मे हास्यरस की मात्रा विशेष रहती थी। अपनी विशिष्ट भाषा के कारण आप हिन्दी गद्य के एक शैलीकार माने जाते हैं। आप स्वभाव के बड़े ही तेजस्वी, सत्यनिष्ठ और विनयशील थे। काश्मीर-प्रवास मे सीढी पर से गिर जाने के कारण आप ऐसे बीमार पड़े कि फिर स्वस्थ न हो सके।

माधवप्रसाद मिश्र

जन्म—संवत् १९२८ वि०, निधन—संवत् १९६८। आप झंझर, ज़िला रोहतक के निवासी थे। आपने हिन्दी में 'सुदर्शन' नामक मासिक-पत्र को जन्म दिया था। इस पत्र ने उस समय हिन्दी की अच्छी सेवा की। गद्यकार होने के अतिरिक्त आप एक प्रतिभाशाली कवि, वक्ता तथा दार्शनिक विद्वान् भी थे। 'युवा संन्यासी' नामक जो कविता आपने स्वामी रामतीर्थ के संन्यास-प्रवेश के उपलक्ष्य में लिखी है, वह खड़ीबोली के काव्य में अपना अक्षुण्ण ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। आपकी लिखी पुस्तकों में विशुद्ध चरितावली तथा सम्राट् विक्रमादित्य उल्लेखनीय है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

जन्म—संवत् १६३६ वि०, निवास-स्थान दौलतपुर ज़िला रायबरेली, निधन—संवत् १६६५ वि० । द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य के परिष्कार का इतना अधिक कार्य किया है कि उनका जीवन हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास का एक अध्याय बन गया है । हिन्दी के तो आप आचार्य ही थे; साथ ही अँगरेज़ी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू भाषाओं में भी आपकी विशेष गति थी। आपके द्वारा अनुवादित अँगरेज़ी, सस्कृत तथा बंगला ग्रंथों की संख्या दो दर्जन के लगभग है। भारतीय संस्कृति के परम पोषक होते हुए भी आप सुधारों के समर्थक थे। सस्कृत भाषा के काव्यों के प्रति आप में इतना अधिक अनुराग था कि आपने कुमार-सम्भव-सार तथा रघुवंश आदि का छन्दोबद्ध अनुवाद किया है । कालिदास के काव्यों की समीक्षा पर आपकी 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक ने अपने प्रकाशन-काल में बड़ी हलचल उपस्थित कर दी थी। ललित साहित्य के प्रति आप मे जैसी प्रीति थी; अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, पुराण, इतिहास, पुरात्तत्व तथा दर्शन आदि विषयों के प्रति अपेक्षाकृत कम न थी। साहित्य को सर्व्वाङ्गपूर्ण बनाना आपका मुख्य लक्ष्य था। निज सम्पादित 'सरस्वती' मे आप तदनुरूप सभी विषयों के लेखों को बड़ी छान-बीन के साथ सचित करके प्रकाशित करते थे । साहित्य-समालोचना मे अपने दृष्टिकोण के अनुसार आप जैसा उचित समझते थे, उसे निस्संकोच प्रकट करते थे । यह प्रवृत्ति आपमे इतनी दृढ और विकसित हो गई थी कि अपने स्वार्थों की हानि की भी आप विशेष परवा नहीं करते थे। हिन्दी गद्य का जो परिष्कृत रूप आज हम देख रहे हैं, उसका अधिकांश श्रेय द्विवेदी-युग और 'सरस्वती'-सम्पादन को है। खड़ीबोली को हिन्दी कविता की भाषा का आधुनिक रूप देने का भी बहुत कुछ श्रेय आप ही को है। साहित्यिक पथ-निर्देश, साहित्य-निर्माण मे नियंत्रण और साहित्य क्षेत्र में उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों के प्रति कठोर अनुशासन की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी-साहित्य का बीस वर्ष का इतिहास (सन् १६०४—२४ ई०) आपकी ही सुरुचि, दूरदर्शिता और संलग्नता का सुन्दर परिणाम है।

श्यामसुन्दरदास

जन्म—संवत् १९३२ वि०　　　　　　　　　　　निवास-स्थान काशी।

हिन्दी-साहित्य के उत्थान में बाबू साहब की सेवाओं को प्रमुख स्थान प्राप्त है। हिन्दी मे गम्भीर निबन्ध लेखन के प्रचलन को आपके द्वारा समय-समय पर जो प्रोत्साहन और उत्तेजन मिला है, उसका हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। साहित्य कला पर स्वय आपके लिखे अनेक निबन्ध अत्यन्त उत्कृष्ट और विवेचना-पूर्ण हैं। 'साहित्यालोचन', 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'भाषा-विज्ञान' आपके प्रसिद्ध ग्रथ हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण मे जो कुछ किया है, उसमे आपकी प्रेरणा, सदाशयता और कार्य-कुशलता का प्रमुख हाथ रहा है। सभा के निर्माताओं में आप अग्रणी माने जाते हैं। सरस्वती' के जन्म-काल में आप भी उसके सम्पादक-मडल मे थे। हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादकत्व में आपका भी सम्यक्योग रहा है। काशी के हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में अनेक वर्षों तक अध्यक्ष रहकर आपने हिन्दी को कई योग्य लेखक तथा साहित्य-अन्वेषक दिये हैं। आपकी इन्हीं सेवाओं से प्रभावित होकर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य-वाचस्पति तथा हिन्दू विश्व-विद्यालय ने डी० लिट् की उपाधि देकर सम्मानित किया है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के आप सभापति हो चुके हैं। साहित्य-क्षेत्र के अतिरिक्त राजकीय क्षेत्र मे भी आप रायबहादुर की उपाधि से सम्मनित हैं।

कृष्णबल्देव वर्म्मा

जन्म—सवत् १९२९ वि०　　　　　　　　　　　निधन – सवत् १९८९ वि०।

आपका निवास स्थान काल्पी था। आप हिन्दी-साहित्य के पुराने लेखक और उसके परम पुजारी थे। बुन्देलखण्ड के इतिहास के आप विशेष ज्ञाता थे और इस विषय पर आपने कई ग्रंथों का निर्माण भी किया है। आप परिष्कृत हिन्दी के पक्षपाती थे और आपकी भाषा बड़ी मर्मस्पर्शिनी

होती थी। आपका ओरछा-वर्णन एक बार पढ़कर पाठक कभी उसको भूल नहीं सकता।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

जन्म—संवत् १९३२ वि० निधन—सवत् १९९८ वि०।

आप मलयपुर, ज़िला मुंगेर के निवासी और हिन्दी के पुराने लेखक थे। ब्रजभाषा से आपको विशेष प्रेम था और हिन्दी-काव्य मे ब्रजभाषा के ही माध्यम के आप विशेष समर्थक और पक्षपाती थे। 'मधुर मिलन', 'ससार चक्र' तथा 'अनुप्रास का अन्वेषण' आपकी चिरप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। काव्य, नाटक, निबन्ध तथा समालोचना आपकी रचना के प्रिय विषय थे; परन्तु व्यग्यपूर्ण भाषा और हास्य के उद्रेक मे आपकी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देखने को मिलता था। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के १२ वे अधिवेशन के सभापति हुए थे। आयु के उत्तरार्द्ध में आप ख़ैर-स्टेट (ज़िला मुंगेर) के मैनेजर के पद पर कार्य कर रहे थे। प्रतिष्ठित हिन्दी साहित्य-सेवियों मे विनोदप्रिय प्रकृति के आप ऐसे अकेले व्यक्ति थे, जिन्हे हिन्दी-ससार सदा स्मरण रखेगा।

पद्मसिंह शर्मा

जन्म—संवत् १९३१ वि० निधन—संवत् १९८९ वि०।

आप नायक-नगला ज़िला विजनौर के निवासी हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक और समालोचक थे। हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना की परम्परा आपके ही द्वारा उत्पन्न हुई। संस्कृत और फ़ारसी-साहित्य के आप विशेष ज्ञाता थे। बिहारी-सतसई का संजीवन-भाष्य लिखकर आपने अक्षय कीर्ति अर्जित की थी। इस ग्रंथ पर आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर सम्मानित किया था। सवत् १९८५ वि० के मुज़फ़्फ़रपुरवाले वार्षिक अधिवेशन मे आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। अपने आलोचनात्मक निबन्धों में भावों की सुकुमार वृत्तियों की छानबीन मे आपने एक सच्चे साहित्यालोचक की

प्रतिभा का जो परिचय दिया, हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहास में वह सदा स्मरणीय रहेगा।

द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी

आप इटावा-निवासी हिन्दी के पुराने सेवक हैं। 'यादवेन्दु' तथा 'राघवेन्द्र' नामक मासिकपत्रों के सम्पादन, संस्कृत के 'वाल्मीकीय रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे महाकाय महाकाव्यों के हिन्दी-अनुवाद, अनेक हिन्दी तथा अँगरेज़ी-हिन्दी कोषों के संकलन और सम्पादन के अतिरिक्त 'वारिन् हेस्टिंग्स', 'भारतीय चरिताम्बुधि' आदि मौलिक ग्रंथों और दर्जनों बालोपयोगी पुस्तकों के लेखन द्वारा आपने हिन्दी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। आपके द्वारा रचित, संगृहीत, अनुवादित और सम्पादित पुस्तकों की संख्या शताधिक है। आप परिष्कृत हिन्दी के समर्थक, भारतीय संस्कृति के पुजारी, अत्यन्त कर्मठ एक विद्वान साहित्यिक हैं। आजकल आपकी अवस्था सत्तर वर्ष के लगभग है। अतएव कार्यक्षेत्र से अवकाश ग्रहण करके आप भगवत् आराधन में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं।

राधाकृष्ण मिश्र

जन्म—संवत् १६२७ वि० निधन—संवत् १९६७ वि०

आप भिवानी (हिसार) के निवासी, संस्कृत तथा बंगला के अच्छे ज्ञाता, हिन्दी के प्रतिभाशाली लेखक थे। आपकी सूझ मौलिक थी और भाषा परिष्कृत और परिमार्जित होती थी। आपके द्वारा रचित ग्रंथों में रामायणी कथा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्यामविहारी मिश्र

जन्म—संवत् १६३० वि० निवास-स्थान—गोलागंज लखनऊ।

आप हिन्दी के पुराने लेखक हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकालीन इतिहासकारों में आपको अग्रिम स्थान प्राप्त है। हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना की परम्परा स्थापित होने में, आपके 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा

"हिन्दी-नवरत्न" नामक ग्रंथों के द्वारा विशेष बल मिला है। आप तीन भाई थे। आप से छोटे श्री शुकदेवविहारी हैं। बड़े श्री गणेशविहारी थे। मिश्रबन्धु-विनोद तीनों की सम्मिलित रचना है। परन्तु समालोचना-सम्बन्धी विशिष्ट रचनाएँ केवल आप तथा शुकदेवविहारी के नाम से ही प्रकाशित हुई हैं। आप सच्चे अर्थों मे हिन्दी-साहित्य-सेवी हैं; क्योंकि हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा करने पर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले किसी कार्य से आर्थिक लाभ आपने कभी नहीं उठाया। आप सरकार द्वारा रावराजा तथा रायबहादुर पदों द्वारा सम्मानित हो चुके हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

जन्म—संवत् १९४१ वि० निधन—१९९८ वि०।

आपका जन्म बस्ती ज़िले के एक गाँव में हुआ था। परन्तु आप रहते काशी मे थे। आपने अँगरेज़ी की विधिवत् शिक्षा एफ़० ए० तक ही पाई, परन्तु व्यक्तिगत अध्ययन और अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा यशस्वी होकर आप आई० सी० एस्० तक के परीक्षक हुए। आप अनेक वर्षों तक हिन्दू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापक रहकर अन्तिम वर्षों में उसके अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित रहे। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी-शब्द-सागर के आप प्रमुख सम्पादक थे। यद्यपि पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन आपने बहुत मनोयोग से किया था, तथापि आपके रचनात्मक साहित्य पर भारतीय सस्कृति के आदर्शों की ही छाप रहती थी। संस्कृत तथा बँगला भाषा के भी आप विशेष ज्ञाता थे। राखालदास बन्दोपाध्याय के दो उपन्यासों का आपने सुन्दर अनुवाद किया है। अँगरेज़ी के 'लाइट ऑव एशिया' के 'बुद्ध-चरित' नामक पद्य वद्ध अनुवाद में भी आपको विशेष सफलता मिली है। तरुण जीवन में आपने कुछ 'कविताएँ भी लिखी थीं। उनमें आपकी श्रेष्ठ कवि प्रतिभा का परिचय मिलता है। परन्तु आपके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य निबन्ध-लेखन तथा साहित्य-समीक्षा विषयक है। तुलसी, सूर तथा जायसी पर लिखी आपकी समीक्षाएँ हिन्दी-साहित्य के लिए अमूल्य देन है। आपकी समीक्षा-

पद्धति ने हिन्दी-साहित्य की गौरव-वृद्धि की है, उसके मान को उन्नति की उच्चतम कोटि तक पहुँचा दिया है। 'हिन्दी काव्य में रहस्यवाद', 'चिन्ता-मणि' तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आपकी ऐसी रचनाएँ हैं जो अपनी विशिष्ट शैली, विश्लेषण तथा भाषा-सौष्ठव के कारण अमर रहेंगी।

पुरुषोत्तमदास टंडन

जन्म—सवत् १९३९ वि०। आप प्रयाग के निवासी हिन्दी के यशस्वी लेखक, व्याख्याता तथा उसके अनन्य पुजारी हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट की प्रेरणा से आपको जो हिन्दी भाषा-साहित्य से प्रेम उत्पन्न हुआ वह उत्तरोत्तर बढता ही चला गया। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन जैसी अखिल भारतीय संस्था आप ही की निस्पृह लगन, सुरुचि और साधना का फल है। "अभ्युदय" के आप आदिसम्पादक थे। अपने सम्पादन-काल में, समय-समय पर, आपने जो लेख लिखे, यदि उनका संकलन किया जाय, तो कई पुस्तकें तैयार हो जायँ। साहित्यिक विषयों, समस्याओं और प्रस्तावों पर आपके जो सारगर्भित एव ओजस्वी व्याख्यान हुए हैं, यदि वे लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो पाते, तो उनसे अलमारियाँ भर जातीं। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से आपने जो भाषण दिया था, अनेक दृष्टियों से वह अपना विशेष महत्व रखता है। आप देश के सम्मान्य नेता और युक्तप्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के स्पीकर (अध्यक्ष) हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए निरन्तर अथक परिश्रम तथा चिन्तन में अपना जीवन खपानेवाले इने-गिने व्यक्तियों में आप अग्रणी हैं।

सुनीतिकुमार चटर्जी

आपने लंदन विश्वविद्यालय से संवत् १९७८ वि० में भाषा-विज्ञान में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की; परन्तु संवत् १९७९ वि० तक आप विशेष अध्ययन के लिए लदन और पेरिस मे ही बने रहे। इस समय आप कलकत्ता-विश्व-विद्यालय में भाषा-विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष और ध्वनि-शास्त्र-विषयक खैराचेयर के प्रोफेसर हैं। आप भारत की प्राचीन लिपियों

के पूर्ण पंडित और शिला-लेखों, ताम्रलिपियो, मूर्तिकला-विषयक काल-निर्णयों तथा भारत की प्राचीन-अर्वाचीन विविध चित्रकलाओं के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ हैं। लदन के आर० एल्० टर्नर तथा पेरिस के जूल ब्लाश जैसे भाषा-विज्ञान विषयक विश्व-विख्यात विद्वानों के साथ आपकी गणना की जाती है। आपमें स्मरण-शक्ति अगाध है। आप पुरातन भारतीयसंस्कृति के पुजारी और बग-भाषा के सम्भ्रान्त लेखक होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल सम्पोषक एवं भक्त हैं।

नानालाल चमनलाल मेहता

मेहताजी गुजराती भाषा के प्रसिद्ध लेखक, भारतीय चित्रकला—विशेष रूप से मुग़लकालीन—के विशेषज्ञ और आई० सी० एस्० हैं। इस प्रान्त में आप कलक्टर, कमिश्नर तथा सेक्रेटरियट मे एजूकेशनल सेक्रेटरी जैसे सम्माननीय उच्च पदों पर लगभग पच्चीस वर्षों तक कार्य कर चुके हैं। इस प्रान्त मे रहते रहते आपको हिन्दी भाषा और उसके साहित्य से भी विशेष प्रेम हो गया। फलस्वरूप जिन दिनों आप आज़मगढ़, प्रतापगढ़ तथा फतेहपुर में कलक्टर के पद पर थे, उन दिनों वहाँ पर कवि-सम्मेलनों की धूम रहा करती थी। आपने भारतीय चित्रकला के सम्बन्ध मे अँगरेज़ी मे जो लेख लिखे, उनसे ससार के चित्रकला-मर्मज्ञों मे आपका गौरव-पूर्ण स्थान हो गया है। 'हिन्दुस्तानी-एकेडमी' से प्रकाशित अपने 'भारतीय चित्रकला' नामक ग्रथ में आपने सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अत तक की भारतीय चित्रकला पर जो गवेषणा, व्याख्या और विवेचना की है उससे हिन्दी-साहित्य के एक विभागीय अभाव की ही पूर्ति नहीं हुई, वरन् हिन्दी भाषा की गौरव-वृद्धि हुई है। हिन्दी भाषा में अपने विषय का यह प्रथम महत्वपूर्ण ग्रथ माना जाता है। पिछले दो-तीन वर्षों से आप भारत-सरकार के शुगर-कन्ट्रोलर पद पर कार्य कर रहे हैं।

रामप्रसाद त्रिपाठी

जन्म-संवत् १९४६ वि०—निवास-स्थान इलाहाबाद। आपका जन्म

मुजफ्फरनगर में हुआ, किन्तु आपके पूर्वज सैंवसू ज़िला कानपुर के निवासी थे। आपने पजाब-यूनिवर्सिटी से इतिहास विषय में प्रथम श्रेणी में एम० ए० किया और सवत् १६७१ वि० में आप लखनऊ के क्रिश्चियन कालेज में इतिहास के प्रोफेसर नियुक्त होकर आये। पुनः सवत् १६७३ वि० मे प्रयाग-विश्व-विद्यालय में इतिहास-विभाग में लेक्चरर नियुक्त हो गये। सवत् १६८१ वि० में आप विलायत गये और संवत् १६८३ वि० में लदन यूनीवर्सिटी से डी० एस० सी० की उपाधि लेकर पुनः प्रयाग-विश्व विद्यालय में लेक्चरर के पद पर नियुक्त हो गये। आप मुग़ल-कालीन इतिहास के अखिल भारतीय विशेषज्ञो में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। इतिहास विषयक आपके भाषण इतने ज्ञातव्य तथा रोचक होते हैं कि उनको सुनने के लिए विश्व-विद्यालय के छात्र सदा उत्सुक रहते हैं। हर्ष की बात है कि इस वर्ष आप प्रयाग-विश्व विद्यालय में इतिहास-विभाग के अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं। आप इतिहास विषय के आचार्य तो हैं ही; हिन्दी साहित्य के विशेष प्रेमी और ब्रजभाषा के उच्चकोटि के कवि भी हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आपका जन्म माघ शु० ११ सवत् १६४५ को महिषादल-स्टेट (बगाल) में हुआ, किन्तु आपके पूर्वज गढ़ा-कोला ज़िला उन्नाव के निवासी थे। महिषादल दरबार की देख-रेख में आपने संस्कृत, अँगरेज़ी तथा बँगला भाषा और संगीत कला की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त की। पर बचपन से ही स्वाधीन विचार रखने के कारण आपकी विधिवत् उच्चशिक्षा न हो सकी। तो भी अपनी रुचि के अनुसार आपने दर्शन-शास्त्र के प्रतिनिधि ग्रंथों का अध्ययन किया। कुछ दिनों तक आप रामकृष्ण-मिशन की ओर से निकलने वाले 'समन्वय' नामक मासिकपत्र के सम्पादक रहकर 'मतवाला' के एक-आध स्तम्भों के सम्पादक रहे। हिन्दी मे छायावाद की कविता को जन्म देकर उसे विकसित करने तथा विशेष रूप से अतुकान्त छन्दों और उनकी छोटी-बड़ी असमान पंक्तियों की कविता के जन्मदाता होने के कारण आप युग-प्रवर्तक कवि के रूप मे प्रसिद्ध हैं। परिमल, अनामिका,

तुलसीदास तथा गीतिका आपके प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ हैं। कई उपन्यासों और कहानियों के अतिरिक्त आपने निबन्ध भी यथेष्ट संख्या में और अत्यन्त विवेचना-पूर्ण लिखे हैं। इस प्रकार आप हिन्दी में सर्वतोमुखी प्रतिभा के अन्यतम कलाकार के रूप मे प्रतिष्ठित हैं।

राय कृष्णदास

आपका जन्म सन् १६१२ ई० मे, काशी के सम्भ्रान्त रायवंश में हुआ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आपके पिता के ममेरे भाई थे। आपने अँगरेज़ी और संस्कृत भाषा की शिक्षा अपने विद्वान् पिता की देख-रेख में प्राप्त की। कालान्तर में जब उनका देहान्त हो गया, तो अपने निजी अध्यवसाय से आपने अध्ययन-क्रम तो बराबर जारी रक्खा ही, साथ ही हिन्दी में रचनात्मक कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। अपने वंश का साहित्य प्रेम आपके विकास में विशेष सहायक हुआ। बचपन से ही आपको सुधी साहित्यिकों के सम्पर्क में रहने का सुअवसर प्राप्त होता रहा। 'प्रसाद' जी तथा राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त आपके अनन्य मित्र रहे। साहित्य मनीषी पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी आपको बड़ा प्रोत्साहन मिला। फलतः आपने गद्य-काव्य, कहानी और निबन्ध-लेखन पर ध्यान दिया और सबमें यथेष्ट सफलता प्राप्त की। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य के आप सर्वप्रथम सफल लेखक हैं। चित्रकला और मूर्तिकला से आपको विशेष रुचि है और इस विषय के उच्चतम मर्मज्ञों मे आपका अपना एक निश्चित स्थान माना जाता है। आपने सुन्दरतम चित्रों और मूर्तियों का एक अमूल्य संग्रह 'भारतीय कलाभवन' के नाम से स्थापित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा को भेंट देकर भारतीय कला और संस्कृति की अमर सेवा की है। हिन्दी कथा-साहित्य में आपकी लिखी भावात्मक कहानियाँ अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं।

गुलाबराय

जन्म संवत् १६४४ वि०। छतरपुर स्टेट में आप महाराजा के प्राइवेट-

सेक्रेटरी पद पर सत्रह वर्ष तक रह आजकल आगरे में "साहित्य-संदेश" का सम्पादन करते हैं और वहाँ के सेंट जांस कालेज मे हिन्दी के लेक्चरर भी हैं।

आप दर्शन शास्त्र के अच्छे ज्ञाता, हिन्दी के पुराने लेखक और निबन्धकार हैं। साहित्य समीक्षा में आपका दृष्टकोण प्राय: समन्वयवादी रहता है। आपकी लिखी पुस्तकें विश्व-विद्यालयों और कालेजों के हिन्दी छात्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं। 'नवरस,' प्रबन्ध-प्रभाकर' तथा 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास' उनमें मुख्य हैं। हाल में आपने आत्म-कथा के ढग पर 'मेरी असफलताएँ नामक पुस्तक लिखकर अपनी विनोद-पूर्ण शैली का सुन्दर परिचय दिया है।

सियारामशरण गुप्त

जन्म संवत् १९५५ वि०। आप हिन्दी के राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज हैं और चिरगाँव (झाँसी) मे निवास करते हैं। आप हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और श्रेष्ठ गद्य-लेखक हैं। अब तक आपके कई काव्य-ग्रथ, उपन्यास, कथा-सग्रह तथा नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। उनमे आर्द्रा, दूर्वादल तथा नारी प्रमुख हैं। हाल ही में आपकी 'सच झूठ' नामक निबन्धों की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। हिन्दी में यह अपने ढंग की अनूठी रचना है। इसमें एक कवि और चिन्तक लेखक की भावनाओं का सुन्दर मिश्रण हुआ है। आप विशुद्ध भारतीय आदर्शों के पुजारी एवं प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं।

राहुल सांकृत्यायन

जन्म संवत् १९५० वि०, जन्म-स्थान पन्दहा ज़िला आज़मगढ़। बचपन से ही आप घर तथा माता पिता का मोह त्यागकर प्रवासी तथा पर्य्यटक का जीवन बिताते हुए दर्शन, धर्म, इतिहास तथा पुरातत्व-विषयक साहित्य के अध्ययन में पड़ गये। जब प्रकाशित और प्राप्य पुस्तकों से आपकी ज्ञान-पिपासा शान्त न हुई, तो हस्तलिखित और अप्राप्य साहित्य की खोज करके आपने उसका भी भरपूर अध्ययन किया। इसके लिए

आपको देश-विदेश घूमकर संस्कृत, अँगरेज़ी, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, तिब्बती तथा रूसी आदि भाषाओं का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। फलतः अब तक के जीवन मे अनेक बार आपको अपने जीवन-दर्शन सम्बन्धी विचार बदलने पड़े हैं। आजकल आप समाजवादी हैं। आपके द्वारा लिखित अनुवादित और मौलिक ग्रन्थों की संख्या तीस के लगभग है, जिनमें 'मानव-समाज,' 'वैज्ञानिक भौतिकवाद,' 'दर्शन' 'दिग्दर्शन', 'वोल्गा से गगा' तथा 'विश्व की रूप-रेखा' प्रमुख हैं। अध्ययन, परिश्रम और शीघ्रलेखन-शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी भाषा को इतनी जल्दी, इतना अधिक और इतने प्रकार का उच्च साहित्य और किसी लेखक ने नही दिया। जितना कार्य विद्वानों की बड़ी-बड़ी समितियाँ अथवा मडलियाँ नहीं कर पातीं, उतना आप स्वय कर लेते हैं। आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा का यह दान हिन्दी के लिए गौरव-पूर्ण है।